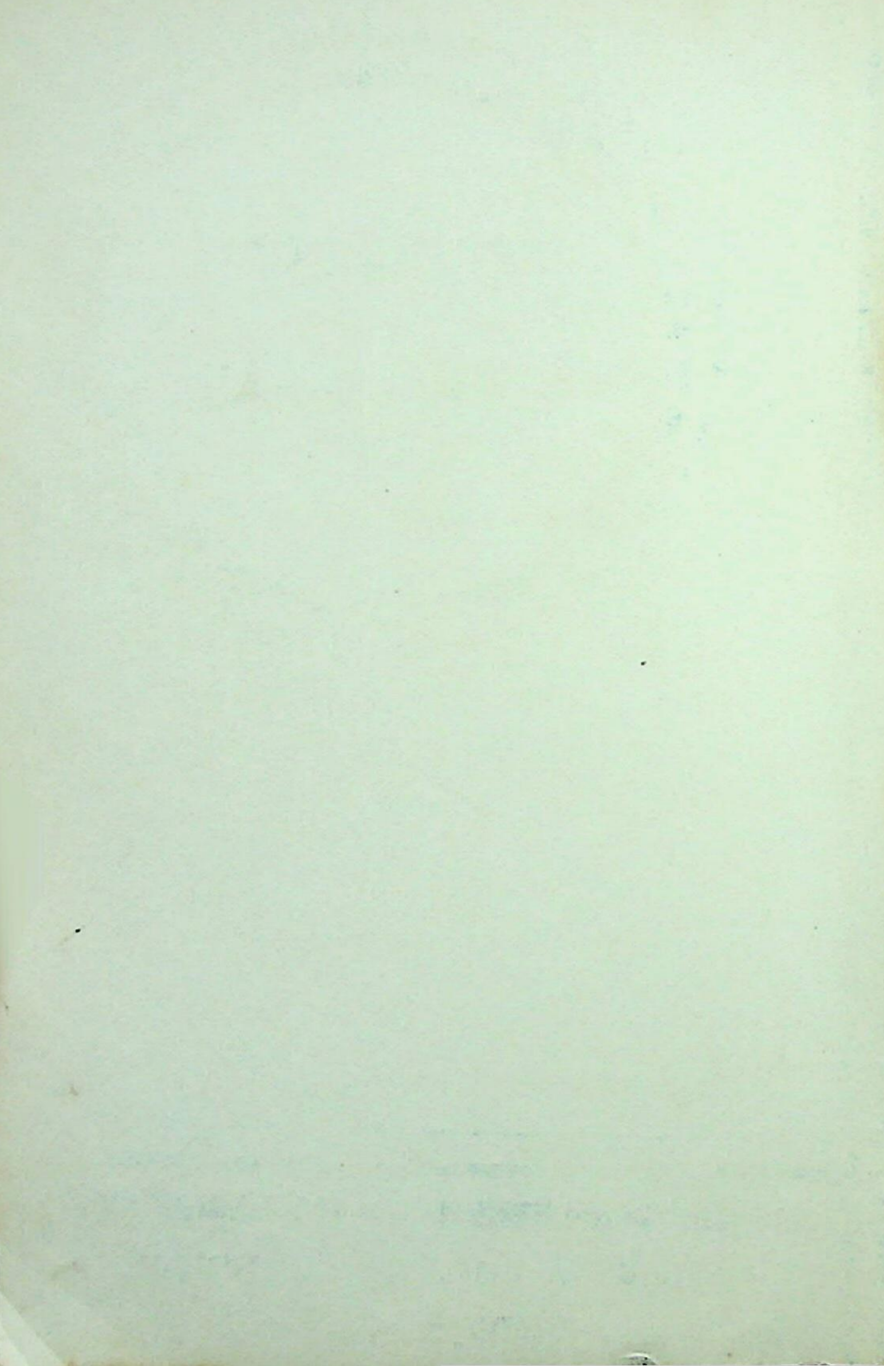
भामिनी-विलास

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास प्रकाशन,
कल्याण - बम्बई.



॥ श्रीः ॥

श्रीमत्पंडितराज जगन्नाथ प्रणीत

भामिनी–विलास ।



नामक संस्कृत काव्य का

अवधमंडलांतर्गत रायबरेली प्रांतस्थ दौलतपुर निवासी

महावीर प्रसाद द्विवेदी

हेड टेलिग्राफइन्स्पेक्टर आय० यम० रेलवे झांसी

विरचित

मूलश्लोक सहित देवनागरी

भाषानुवाद



गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास प्रकाशन

कल्याण बम्बई

संस्करण-सन् १९९१, संवत् २०४७

मूल्य २० रुपये मात्र

मुद्रक और प्रकाशक-
मे० खेमराज श्रीकृष्णदास, अध्यक्ष-श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई-४, के लिये
दे० स० शर्मा, मेनेजर, द्वारा श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, खेतवाड़ी, बम्बई-४ में मुद्रित।

भूमिका

किसी नूतनग्रंथका वाचन आरंभ करनेके पहिले ग्रंथकारका जीवनचरित्र, उसका काल, ग्रंथनिर्माणकारण इत्यादि विषयोंके जाननेकी उत्कंठा सर्व रसज्ञ वाचकोंके मनमें स्वभावतः आविर्भूत होती है। परंतु, भारतवर्षमें कवियों राजाओं तथा अपर प्रसिद्ध पुरुषोंके जीवनचरित्र लिखनेकी विशेष परिपाटी प्राचीनकालमें न होनेसे, वाचकोंकी मनस्तृप्ति इस विषयमें कहां तक सुफल होती है यह बहुधा सर्वग्रंथवाचकसमूहको विदित ही है। 'इतिहास' के लाभ और उनके ग्रंथनकी प्रथा हमारे पूर्वज न जानते थे यह कहना योग्य नहीं क्योंकि, 'राजतरंगिणी' 'श्रीहर्षचरित' 'विक्रमार्कदेवचरित' आदिक इतिहास गीर्वाण भाषामें अद्यापि विद्यमान हैं। 'राजतरंगिणी' में काश्मीर देशका इतिहास है, इसमें भिन्न भिन्न पंडितोंने अकबर बादशाहके समयतकका भली भांति वर्णन किया है। दूसरे दो अपने-अपने नामके राजाओंके चरित्रदर्शक हैं और अनुक्रमसे 'बाणभट्ट' और 'बिल्हण'के रचे हुए हैं।'इतिहास' शब्दमें जिनका समावेश होसके ऐसे केवल यही ग्रंथत्रय मेरे अवलोकनमें आये हैं। हमारे पूर्वजनोंने कितने और कौन कौन ऐतिहासिक ग्रंथ निर्माण किए इसका पता लगाना इस समयमें बहुधा असंभव हो गया है। प्रस्तुत कालमें इस विषयके ग्रंथोंके उपलब्ध न होनेका कारण या तो अनेक मतांतरवालोंके द्वारा या अन्यदेशीय राज्यसत्तात्मक फेर फारके संचारसे नष्ट होजाना है। अथवा यह कहना भी कुछ अंश अयोग्य न होगा कि हमारा देश पूर्वकालमें स्वतं-त्रावस्थामें न रहा और इसीसे वर्णन योग्य चमत्कारिक कथा हमारे संस्कृत विद्वानोंको न मिली कि, जिससे वे किसी मनोहर इतिहासको जैसे 'ग्रीस' देश के महाकवियोंने रचा वैसे निर्माण करते। 'राजतरंगिणी' में इतिहास प्रशंसा-त्मक प्रकारका लेख है:-

> कोऽन्यः कालमतिक्रांतं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः।
> कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः॥

२ भामिनी विलास' की भूमिकामें इतिहास पै निबन्ध लिखते बैठना

---

१ रम्य अर्थसृष्टि निर्माण करनेवाले प्रति ब्रह्मदेवही ऐसे कवि उनके अतिरिक्त पुरातन कालकी स्थिति पुनर्वार दृष्टिगोचर करनेकी सामर्थ्य और किसमें है?

मेरा अभिप्राय नहीं, परन्तु प्रस्तुत काव्यके कर्ता पंडितेन्द्र जगन्नाथरायके चरित्रका दिग्दर्शन करानाहै इससे इतिहासके विषयमें कुछ लिखना मैंने योग्य समझा।

३ वस्तुतः पंडितराजके विषयमें चार अक्षर लिखनेका मार्ग रहाही नहीं यह कहना अयथार्थ है ऐसा नहीं। हां उनके ग्रंथोंसे कुछ अत्यल्पवृत्त उनका जाना जा सकता है परंतु जो तत्त्व जीवनचरित्रमें उपलब्ध होता है वह कहां और महान् प्रयत्नसे ग्रंथोंके कथनकादिकसे एकत्रकीगई वार्ता कहां?

४ कवियोंके जीवनवृत्त विस्तृत होने और उनके पश्चात् तद्विषयक ज्ञान प्राप्त होनेके केवल दो मार्ग हैं। एक तो यह कि उनके चरित्र दूसरोंके द्वारा लिखा जाना अथवा जीवनावस्थामें अपनी दिनचर्या स्वयं लिखना, दूसरा यह कि अपने ग्रन्थमें स्वविषयक लेख यदि सविस्तार नहीं तो संक्षेप ही प्रकाशित करना प्रथम प्रकारका तो नामही न लेना न तो किसी कविने दिनचर्या लिखी और न किसी विद्वान्ने उनके चरित्र प्रगट करनेके हेतुसे अपनी कुशल लेखनक्रियाका व्यय किया। जिन महानुभावोंसे विद्याध्ययन करके षटशास्त्रमें पारंगत हुए और जिनके प्रसादसे अद्वितीय काव्य, नाटकादिक निर्माण करनेकी शक्ति पाई उनका नाम जीवित रखने तथा उनके शुभचरित्र वर्णन करनेकी अभिरुचिने हमारे पूर्वजोंको हृदय न उत्कंठित किये यह कितना आश्चर्य है? मनुष्यजातिके वर्णनमें सरस्वती भांडारका अपव्यय होगा यह समझ उस विषयको न स्पर्श किया ऐसा तो नहीं! दूसरे प्रकारमें भी एक दो ग्रन्थकारोंके अतिरिक्त बहुधा किसीने लेखनी नहीं उठाई। कविकुलगुरु कालिदासने अधिक तो क्या वरन अपना नाम तक निज ग्रन्थोंमें नहीं दिया। उसकी कीर्तिके प्रथमहीसे दिंगतरमें प्रसारित होनेके कारण उसके ग्रन्थ समस्त राष्ट्रमें अत्यन्त प्रिय व वंद्य जो न होजाते और जो उसने नाटक न रचे होते, तो उसके नामके लोप होजानेका भी संभव था। श्रीहर्ष, भव भूति आदिक संस्कृत कवियोंने अपनी कुल कथा अत्यन्त संक्षेप रीतिसे अपने ग्रन्थोंमें दी है, परन्तु केवल पिता, माता, नगर इत्यादिका नामोल्लेख कितना अर्थप्रद है इसका अनुमान सहजही हो सकता है। निनकृत 'श्रीकंठचरित' 'हर्षचरित' व 'विक्रमार्कदेवचरित' में क्रमसे मंखल' 'बाण' और 'विल्हण' कवियोंने अपना सविस्तर वृत्तांत दिया है और इसीसे स्वविषयक इतिहास लेखन प्रणालीमें इन्हीं कवियोंको अग्रगण्य

समझना चाहिए। स्वइतिहास लेखानुयायी चाहें और भी कवि हों परन्तु संस्कृतभाषाके जितने चाहिए उतने ग्रन्थ मेरे निरीक्षणमें न आनेसे इस विषयका अधिक ऊहापोह करना मेरा शक्तिगोचर नहीं। प्रस्तुत शताब्दीमें भाषाकवि कुछ सचेत हुए हैं और अपने अपने ग्रन्थमें स्ववृत्तवर्णन विषयक उल्लेख करने लगे हैं। हमारे भाषा कविपुंगव 'सूरदास' 'तुलसीदास' आदिकने अपने अपने ग्रन्थोंमें मनका संबोधन कर निजनाम निर्देश ठौर ठौर पै किया है; परन्तु उनका अनुकरण करके सांप्रत पद्यकार अब एक विचित्र प्रथाको उत्तेजित कर रहे हैं। यह प्रति पद्यमें निज नामकथन प्रयोग हैं। कहीं कहीं तो इस नाम कथनकी अत्यन्त ही निर्भर्त्सना हुई है। नामोल्लेख विना कवित्वके हरण किये जाने और अन्य कविके नामसे प्रचार होनेका भय है इस प्रकारकी जो कोई शंका करे उसका यही एक मात्र उत्तर है कि जिसको अन्यकृत कवित्वके अन्तर्गत अपना नाम नियोजित करनेकी शक्ति होगी क्या उसे दूसरेके नामको निकाल अपने नामके स्थापित करनेकी शक्ति न होगी? कदाचित् वाचक ऐसा आक्षेप करें कि जीवन चरित्र सम्बन्धीय लेख-यदि इतना श्रेयस्कर है तो मैंने स्वयं उसका अनुकरण क्यों न किया? इस विषयमें मुझे इतनाही कहना है कि एक तो मैं ग्रन्थकार अथवा कविवर्गकी गणनामें नहीं गिना जा सकता क्योंकि तदर्थ जिन वस्तुओंकी आवश्यकता है वह सब मुझमें नहीं; दूसरा यह कि ग्रन्थकार और भाषान्तर कर्तामें महदंतर है तस्मात् मुझ सदृशके नाम प्रामादिकका पुस्तकके प्रथम पृष्ठ पै उल्लेख होना ही बस है।

५ उपरोक्त प्रतिपादनसे यह सिद्ध हुआ कि प्राचीन कालमें नामोल्लेखन तथा इतिहास रचना प्रथाके न होनेसे हमारे अनेक आदरणीय कवियों का कुछ भी यथायोग्य वर्णन नहीं हो सकता। हां भोजप्रबन्धमें इस विषय की वार्ता है परन्तु वह कहां तक प्रामाणिक है यह हमारे संस्कृतज्ञ विद्वानोंको विदित ही होगा। यदि खिस्तीय संवत् ७०० के लगभग चीनदेशका हुएन संग नामक यात्री भारतवर्षमें न आता और उस समयके बौद्ध मतानुयायी श्रीहर्ष राजाका वर्णन अपने ग्रन्थमें न करता तो हमारे प्रसिद्ध 'कादम्बरी' कार संस्कृत कवि बाणभट्टके कालका निर्णय होना दुस्तर हो गया

होता। इस समयमें एक अत्यंत आश्चर्य जनक बात यह कर्णगोचर क्या दृग्गोचर हो रही है कि हमारे अनेक अमूल्य संस्कृत ग्रंथ श्वेतद्वीपस्थ मुख्य मुख्य नगरोंसे प्रकाशित होने और अपने आप भूमिकामें प्रकाशकोंकी प्रकाशित लेखनीसे स्वोत्पादक कवियोंके जीवन चरित्र भी चित्र विचित्र गुण दोष निरीक्षणादिक प्रकार पूरित लेखोंमें स्वदेशवासियोंको सुनाने लगे हैं। क्रमशः प्राप्त होनेवाले हमारे देशके मूर्ख स्वरूपी राहुसे भयभीत होकर हमारा माननीय पुरातन ग्रन्थ समुदाय रूपी चन्द्र अन्यद्वीपके प्रधान पुस्तकालयोंमें निज मान तथा कलेवर रक्षणार्थ तो नहीं पलायन कर गया ? जो हो. अब मैं इस विषयको यहीं समाप्त कर कतिपय पंक्तियोंसे पंडितराज जगन्नाथरायका आदर करूँगा क्योंकि वैसा शीघ्र ही न करनेसे वाचक मेरे ऊपर निबन्ध विरुद्ध लेखनदोषका आरोप करेंगे।

६ प्रस्तुत ग्रन्थकारका जीवन चरित्र न तो किसीने लिखा और न स्वयं कविने स्वविषयक स्वतंत्र पुस्तक रूप कुछ भी कहा इससे उसके ग्रन्थों तथा उसकी उन आख्यायिकोंसे जो आज पर्य्यंत श्रुतिपथ प्रवाहित हो रही हैं जितना वृत्त उपयोगी उद्धृत हो सकेगा उतना सव्यवस्थित वर्णन किया जायगा एक वृद्ध तैलंग देश वासी पंडित जिसका और मेरा दैवयोगसे समागम हुआ और जिससे कई बातें जगन्नाथरायविषयक मैंने सुनी वे भी इसीके अन्तर्गत लिखी जायगी।

मैंने पंडितराजकृत गंगालहरीके भाषांतरके उपक्रममें ग्रंथकारविषयक एक लघु लेख दिया है परन्तु इस स्थलमें जहां तक संभव है तहांतक विशेष २ बातोंका उल्लेख करनेका विचार है।

७ यह अर्वाचीन महान पंडित किस किस स्थानका निवासी था यह निर्णय करना तो सर्वथैव अशक्य है, परन्तु इतना कह सकते हैं कि उसका जन्मदेश तैलंग होगा क्योंकि उसके 'रसगंगाधर' नामक ग्रंथमें यह श्लोक पाया जाता है।

पाषाणादपि पीयूषं स्यंदते यस्य लीलया।
तं वंदे पेरुभट्टाख्यलक्ष्मीकांतं महागुरुम्॥

एतत्कृत प्राणाभरणसंज्ञक ग्रंथमें भी इस प्रकारका अन्तमें एक श्लोक है—

तैलंगान्वयमंगलालयमहालक्ष्मीदयालालितः
श्रीमत्पेरमभट्टसूनुरनिशं विद्वल्ललाटंतपः ।
संतुष्टः कमताधिपस्य कवितामाकर्ण्य तद्वर्णनं
श्रीमत्पंडितराजपंडितजगन्नाथो व्यधासीदिदम् ॥

इससे स्पष्ट होता है कि उनके पिताका नाम पेठिभट्ट अथवा पेमरभट्ट और माताका लक्ष्मी था। उसने गुरुदीक्षा पिताहीसे प्राप्त की थी इसका पिता महा विद्वान् था, उसने सर्व शास्त्रोंका परिशीलन वाराणसीमें अनेक पंडितोंसे किया था। जगन्नाथने विद्याध्ययन अपने पितासे किया और भली प्रकार शास्त्राकलन जब हो गया तब दक्षिण भारत वर्षके 'तंजाउर'[1] नामक संस्थानमें जीविका स्वीकार की परन्तु वहां उसका अनादर हुआ ऐसा उसके अश्वधाटी काव्यके इसश्लोकसे स्पष्ट होता है।

खंजातितोंधिमति गंजाऽपरोपि बत संजायतेत्र धनदः
संजाघटीयि गुणपुंजायितस्य न तु गुंजामितं च कनकम्।
किं जाग्रती जयसि किं जानती स्वपिषि सिंजाननूपुरवदे
तंजापुरेशिं नवकंजाक्षि साधु तदिदं जातु वा किमु शिवे ॥१॥

इस कारण स्वदेश परित्याग करके उसने उत्तरकी ओर पर्यटन किया और भिन्न भिन्न संस्थानोंमें कालक्षेप करता हुआ देहलीकी ओर गया। वहां इससे और एक महम्मदमतानुयायी महात्मासे धर्म विषयक विवाद हुआ जिसमें पंडितराजने अपनी वाक् चातुर्यतासे विजय पाई। इस प्रकार उसकी कीर्ति प्रति दिन प्रवर्द्धित होने लगी यहां तक कि बादशाहका आश्रित नियोजित किया गया जहां उसने स्वविद्याबलसे महान् मान पाया।

८ जगन्नाथरायने देहलीमें फारसी भाषा भी सीखी थी। उसका रचा हुआ संस्कृत–फारसी मिश्रित ग्रंथ सुननेमें आया है। पंडितराज बड़े विलासी और रसिक थे। यह उनकी बहुश्रुत आख्यायिका और काव्य-रचनारूपसे स्पष्ट विदित होता है। 'लवंगी' नामक बादशाह कन्या-सम्बन्धीय कहानी दक्षिण भारतवर्षके सर्व साधारण पंडित जानते हैं। परन्तु इस ओर जगन्नाथरायके ग्रंथोंका विशेष प्रचार न होनेसे कदाचित्

१ तंजोर।

कोई वाचक उस आख्यायिकासे परिचित न होंगे, इस हेतु,उनके मनोरंजनार्थ उसका संक्षेप वर्णन मैं योग्य समझता हूं। वह इस प्रकार है--बादशाहके लवंगी नामक एक कन्या किसी राजपूत रानीसे थी। वह सहजही अत्यंत सुन्दर थी परन्तु युवावस्थाके आगमनसे मन्मथाधिदेवने, उसे अपनी समस्त चातुरीका व्यय करके इतना रमणीय किया कि मानों स्वपत्नी रतिरानीको वृद्धापकाल आनेसे गतयौवना जान, लवंगीही को अपनी सहचारिणी करना इष्ट समझा। इस कन्याने पंडितराजकी पांडित्य, तारुण्य, रम्यरूपछटाको सखियोंसे सुन परम विरहाकुल होत्साती, अपने नयनरूपी चकोरद्वयको पंडितेन्द्ररूपी कलाधरके दर्शनार्थ नितांत चंचल किया। अनुकूल समय आया परन्तु प्रेक्षणने उसकी व्यथाको द्विगुणित करके यह प्रतिज्ञा करवाई कि मुझ लावण्यताका अवलंबन इस पंडितकदंबके अतिरिक्त अन्य शाखी होना महान् धर्मसीमाका उल्लंघन करना होगा क्योंकि मैं इसे स्वामीभावसे ग्रहण कर चुकी। किसी समय जगन्नाथराय और बादशाह विलास मंदिरमें 'बुद्धिबल' (शतरंज *) खेल रहे थे कि द्वितीयाभिधानी×जल प्राशनेच्छुक हुए। अवसर पाय लवंगी एक मनोहर लघुकलशको जल प्रपूरित करके जहां खेल हो रहा था प्रविष्ट हुई। बादशाहके मानसको तारुणीने अपनाया था इससे उस समय एक विचित्र रंगके तरंग उसके हृदयांतर्गत उल्लसित हुए। लवंगीकी ओर पंडितराजको भी अनिमेषभावसे अवलोकन करते हुए बाद-

---

* यह शब्द 'शत्रुंजय' का अपभ्रंश जान पड़ता है।

१ वाचक विस्मित होंगे कि विलासमंदिर, जहां बादशाहको मंत्रिवर्ग अथवा स्ववंशके माननीय पुरुषोंके साथ खेलमें निमग्न होना था वहां यःकश्चित् एक पंडित का प्रवेश ! परन्तु विचार करनेसे भ्रमका शीघ्रही निराकरण हो जायगा। विद्याविलासी जनोंको पंडितों तथा कवियोंसे अधिक, अन्यजन कदापि सुखप्रद नहीं हो सकते। जहां विद्या है वय, वहां जाति, धर्म, धन इत्यादिका विवेचन नहीं किया जाता। विक्रम तथा भोजराजकी सभामें पंडितको दक्षिण और मंत्री वाम ओर स्थान दिये जाते थे।

+ क्या सच्चे रसिकको अपने पुस्तकालयमें एकाग्र चित्त होकर ग्रन्थवाचनका सुख राज्य वैभवके कृत्रिमसुखसे विशेष श्रेयस्कर नहीं है ? अतः अधिगतपरमार्थपंडितको राजासे न्यून न समझना चाहिए।

२ अर्थात् बादशाह यह शब्द आंग्लभाषाके लैटर शब्दका स्थानापन्न है,

शाहने देखा। इन कारणोंसे देहलीनरेशने पंडितेन्द्रको, इसी वेषमें लवंगीके वर्णन करने की, आज्ञा दी। तब कविने कहा–

इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुंभा कुसुंभारुणं चारु चैलं वसाना।
समस्तस्य लोकस्य चेतःप्रवृत्तिं गृहीत्वा घटे न्यस्य यातीव भाति॥[1]

इस अत्युत्कृष्ट वर्णनको श्रवण करके बादशाहने परम प्रसन्नता प्रकट की और जगन्नाथसे इच्छानुकूल याचना करनेको कहा। तदनुसार पंडित फिर बोले–

न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुंभा लवंगी कुरंगीदृगंगीकरोतु॥[2]
यवनी नवनीतकोमलांगी शयनीये यदि लभ्यते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माघवनी विलासहेतु॥ *

इस अद्भुत याचनाको सुनकर बादशाह चकित हुए, परन्तु वचन तो देही चुके थे; लवंगी पंडितराजको समर्पण की। वाचक हास्य करेंगे कि लवंगीका कलश लेकर जगन्नाथरायके सन्मुख प्रवेश करना नितांत असंभव है क्योंकि मुसल्मानोंमें परदा विषयक नियम सहज उल्लंघन नहीं हो सकते। न हो सक्ते होंगे; मेरा अभिप्राय इस आख्यायिकाकी सत्यताके निर्णय करनेका नहीं किंतु जो बातैं बहुधा विद्वानोंके मुखसे सुननेमें आती हैं उनके लिखनेका है। फिर इस आख्यायिकामें कुछ अर्थ नहीं ऐसाभी नहीं। विना किसी पदार्थकी अल्पाधिक स्थितिके तद्विषयक वार्ता नहीं प्रचलित होती अस्तु। लवंगीकी प्राप्ति और तज्जनित पंडिराजका स्वधर्मसे हस्त प्रक्षालन काशीस्थ पंडितोंको सहन नहीं हुआ, अतएव जगन्नाथरायको उन्होंने ब्राह्मण

---

१ मस्तक पै कुंभको स्थापन करनेवाली और कुसुंभ रंगके मनोहर दुकूलसे आभूषित यह सुन्दरस्तनी मानों सर्व संसारके चित्तको हरण करके अपने कलशमें ले जाती हुई शोभायमान है।

२ न मैं गजराजयूथ मांगताहूं. न अश्वराजिकी इच्छा रखता हूं संपत्तिमें मेरा तनिकभी मन नहीं; मस्तक पै घट स्थापन करनेवाली और मनोहर स्तनोंवाली, यह कुरंगनयनी लवंगी मुझे अंगीकार करै।

* नवीनीतके समान कोमलांगी यवनी यदि शय्यामें प्राप्त होवै तो इस भूतलको मैं परम सुखकर मानूंगा, इन्द्रके नन्दनवनमें विलास करनेका सुख उसके सन्मुख तुच्छ है।

पंक्तिसे बहिष्कृत किया। नैरास्यने पंडितेन्द्रको तब तो महान् उदासीनताको पहुंचाया और जैसा सुनते हैं गंगास्तवन द्वारा उनके पातकोंका निराकरण कराया। एतत् सम्बन्धीय आख्यायिका मैंने गंगालहरीके स्वकृत भाषानुवादमें संक्षेप रीतिसे लिखी है इस कारण अब यहां पुनरुक्ति नहीं करता।

९ जगन्नाथरायके कालनिर्णयमें मतांतर है· कोई कहते हैं कि वह अकबरके समयमें और कोई यह कहते हैं कि शाहजहाँके समयमें हुआ। महाराष्ट्र भाषाकी 'काव्येतिहाससंग्रह' नामक मासिक पुस्तकमें रामदास, वामन, इत्यादि कवियोंका काल निर्णय किया गया है जिससे यह विदित होता है कि, जगन्नाथराय शाहजहांके समयमें थे। वामन पंडितने गंगालहरीका समश्लोकी भाषांतर किया है, इससे भी स्पष्ट है कि या तो वह पंडितराजका समकालीन था या कुछ पीछे हुआ। रामदास, वामनादिक, शाहजहांके समयमें हुए हैं तस्मात् जगन्नाथरायका अकबरकी सभामें होना असंभव जान पड़ता है,। फिर 'आईन अकबरी' में लवंगी अथवा पंडित जगन्नाथका कुछ भी वृत्तांत नहीं है; यदि वे उस समयमें होते तो इनका कुछ न कुछ अवश्यमेव उस पुस्तकोंमें वर्णन किया जाता, क्योंकि उसमें अल्प अल्पसे बातोंका स्पष्टीकरण किया गया है। मुम्बापुरस्थ श्रीयुत पंडित लक्ष्मणरामचन्द्र वैद्यने स्वप्रकाशित भामिनीविलासके उपोद्घातमें पंडितराजके 'आसफविलास' नामक ग्रंथसे कुछ पंक्तियां उद्धृत की हैं, जिनमें प्रस्तुत कवि स्वयं कहता है कि 'पंडितराज' की पदवी उसे शाहजहांने दी। इन प्रमाणोंसे यह स्थिर हुआ कि जगन्नाथ पंडित खिस्तीय सम्वत् १६५० के लगभग देहलीमें वर्तमान था। वृद्धावस्थामें उसने बहुत काल पर्य्यंत मथुरा वास किया।

१० जगन्नाथरायके ग्रंथोंके अवलोकनसे यह तत्काल भासित होता है कि वह परम विद्वान् था। ऐसा सुनते हैं कि राज्यसभामें उसने बहुतेरे पंडितों को शास्त्रार्थमें परास्त किया। काव्यमें उसे कितना गर्व था यह भामिनीविलासके अंतिमश्लोकोंसे विदित होता है संस्कृत कवियोंमें यदि इसकी गणना कालिदास, भारवि, भवभूति आदिकी मालिकामें करैं तो मेरी अल्पबुद्ध्यनुसार अतिशयोक्ति न होगी—इस कविने यवनोंके आघातसे शेषरही साहित्य तथा काव्य

विद्याको अपने अप्रतिम ग्रन्थोंसे विशेष विभूषित किया। इसको संस्कृत भाषाके वर्णनीय कवियोंकी श्रेणीमें अंतिम समझना चाहिये। खेदका विषय है कि ऐसा 'पंडितराज' राजितिलक 'यवनीनवनीतकोवलांगी' में लीन होजाय।

काव्यमाला नामक मुंबईकी मासिक पुस्तकमें इस कविके रचे हुए इतने ग्रन्थोंके नाम लिखे हैं:—

१ रसगंगाधर	८ अमृत लहरी
२ यमुना वर्णन चम्पू	९ सुधालहरी
३ रतिमन्मथ नाटक	१० करुणालहरी
४ वसुमती परिणय नाटक	११ लक्ष्मीलहरी
५ जगदाभरण काव्य	१२ भामिनी विलास
६ प्राणाभरण काव्य	१३ मनोरमा कुचमर्दन
७ पीयूषलहरी	१४ अश्वधाटी काव्य

पंडित लक्ष्मण रामचन्द्र वैद्यने जिसका उल्लेख किया है उस "आसफ-विलास" का नाम उपरोक्त पुस्तकमालिकामें नहीं आया अनुमान होता है कि काव्यमालाकारको वह उपलब्ध नहीं हुआ।

जगदाभरणमें शाहजहांके पुत्र दाराशिकोहका वर्णन है और प्राणाभरणमें काम रूपदेशके राजा प्राण नारायणकी यशः प्रशंसा है, जिसे जगन्नाथरायने काम रूपदेशकी काव्यको श्रवण करके प्रसन्न होकर निर्माण किया था। पीयूष, अमृत सुधा करुणा और लक्ष्मी लहरीमें क्रमसे गंगा, यमुना, सूर्य, विष्णु, और लक्ष्मीका स्तवन है। अश्वघाटीमें रामनामक अपने पौत्रको सदुपदेश किया है यमुना वर्णनचंपू, रतिमन्मथनाटक, वसुमतीपरिणयनाटक और मनोरमाकुचमर्दन मेरे अवलोकनमें नहीं आये।

प्रस्तुत कविके ग्रंथोंमें 'रसगंगाधर' नामक साहित्यका ग्रंथ प्रशंसनीय है। यह हस्तलिखित ही देखनेमें आता था परंतु अब मुद्रित होगया है इस ग्रंथको पंडित राजने बडी चातुर्य और युक्तिसे गद्यपद्यमय निर्माण किया है। इसमें समस्त विषयोंकी उत्तम प्रकारसे व्याख्या करके अलंकारादिकके नूतन उदाहरण अत्यंत रसाल वाणीमें दिये हैं। जगन्नाथरायके कालतक साहित्य ग्रंथकारोंकी यह पर्याय थी कि वह लक्षण अपनी ओरसे लिखते और उदा-

हरण किसी पुरातन ग्रंथका लेते थे, परंतु पंडितराजने वैसा करना उचित नहीं समझा। एतद्विषयक 'रसगंगाधर' के प्रारम्भमें यह श्लोक है:—

निर्माय नूतनमुदाहरणानिरूपं काव्यं मयाऽत्र न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धं कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण×

यह कितनी दर्पोक्ति है ? 'रसगंगाधर' में जगन्नाथरायकृत गंगालहरीके भी श्लोक कई स्थलोंमें उदाहरणार्थ आये हैं जिनके देखनेसे एक प्रकारका व्यामोह उत्पन्न होता है कि यदि भागीरथीने जैसा सुननेमें आता है, उन्हें स्तवनानंतर परमधामको पहुंचाया तो यह श्लोक रसगंगाधरमें कैसे प्रविष्ट हुए इस विषयमें विवाद करना ठीक नहीं क्योंकि ज्यों ज्यों अधिक खोज करते हैं त्यों त्यों अधिक शंका उत्पन्न होती जाती हैं अस्तु। 'कुवलयानंद'कार अप्पया दीक्षित जगन्नाथरायके प्रतिपक्षी थे। उनको पंडितराजने इस ग्रंथमें कुवाच्य' कहे हैं और अनेक स्थल पै 'कुवलयानंद, का खण्डन किया है। प्रसिद्ध 'सिद्धांत कौमुदी' प्रणेता भट्टोजी दीक्षित पै भी पंडितेंद्रका कटाक्ष था। 'मनोरमा' नामक कौमुदीकारकी टीकाको मनोरमा कुचमर्दन ग्रंथलिख• के पंडितराजने छिन्न भिन्न किया है।

पंडितराजकृत ग्रन्थोंमें 'भामिनीविलास' के विषय विशेष कहनेकी आव• श्यकता नहीं क्योंकि उसमें क्या वस्तु है और वह कहां तक आदरणीय है इसका विवेचन वाचक स्वयं करलेवेंगे। यह प्रास्ताविक' शृङ्गार, करुणा और शांत नामक चार विलासोंमें विभक्त है। प्रत्येक पद्य अपना अर्थ अलग अलग देता है, एकसे दूसरा कुछभी संबंध नहीं रखता। यही कारण है कि इस ग्रंथकी प्रतियां मिलती नहीं; किसीमें कुछ न्यून है किसीमें कुछ अधिक। एक ने एक श्लोक मिला दिया दूसरेने दूसरा निकाल लिया। यह ग्रंथ प्रसंगानुसार कहे गये पद्योंका संग्रह है। कोई-कोई कहते हैं कि पंडितराजने अपनी स्त्रीके नामानुसार इसका नामकरण किया. कोई यह अनुमान करते हैं कि

× इस काव्यमें मैंने नवीन उदाहरणोंकी रचना की है; अन्यकृत किंचिन्मात्र भी नहीं ग्रहण किया; कस्तूरिका उत्पन्न करनेकी शक्ति जिनमें होती है वे मृग क्या कभी पुष्प सुगन्धकी भी इच्छा करते हैं ?

निर्माय नूतनमुदाहरणानिरूपं, इस नियमके प्रतिपालनार्थ-'रसगंगाधर' में उपयुक्त होनेके हेतु इसकी प्रथमहीसे रचना की गई थी। वस्तुतः यह प्रतिष्ठित ग्रंथ जगन्नाथरायके अनुपम काव्यचमत्कारका अत्युत्कृष्ट नमूना है।

१२ मेरे जान भामिनीविलास अभीतक कोई देवनागरी भाषांतर प्रकाश नहीं हुआ। होवै कैसे, हमारे माननीय वाचकोंकी संस्कृतकाव्यमें अत्यन्त रुचि है ज बडे बडे उपाधिधारी आंगलभाषाभास्कर एतद्देशीय विद्वानोंको तो 'शेक्सपियर' 'रेनालु' 'मेकाले' से ही अवकाश नहीं मिलता फिर बिचारे जगन्नाथ पंडितको कौन पूछै ? बताइए ग्रन्थ लिखने तथा प्रकाश करनेका उत्तेजन कैसे होवै हां जो पुस्तकें शिक्षा विभागके डाइरेक्टर महोदयने पाठशालाओंमें प्रचलित कर दीं उनकी मात्र अहोभाग्य समझना चाहिये, नहीं तो किसीने चाहै कितने ही परिश्रमसे कैसाही उत्तम ग्रंथ रचा और मुद्रणमें चाहे कितनीही द्रव्य व्यय किया हो बहुधा उसकी प्रतियां या तो यन्त्रालय में पडे पडे कृमि भक्ष्य हो जावेगी या वणिक्विक्रयालयमें उपयोगी होंगी जब ऐसी दशा देखकर भी जानबूझ ग्रन्थलेखन तथा प्रकाशन क्रियामें हम अपनी योजना करते हैं तो समाधानके हेतु इस श्लोकका स्मरण वारंवार हो॥

कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते।
न स विरौति न चापि हि शोभिते भवति योजयितुर्वचनीयता * ॥

ग्रंथ लिखना, भाषांतर करना फिर उनके प्रकाश करनेके प्रयत्नमें लगना बहुतेरोंका स्वाभाविक व्यापार होता है, चाहै हानि हो चाहै लाभ। कभी कभी समाचारपत्रकर्त्ता भी पुस्तकोंका योग्ययोग्य विचार न करके मनमानी समालोचना झोंक देते हैं जिससे ग्रन्थकर्त्ताका अन्तःकरण कलुषित होजाता है और ग्रन्थके प्रचारमें भी बाधा आती है।

१३ भामिनीविलासका पद्यात्मक भाषांतर करके प्रतिश्लोकका भावार्थ पद्यमें लिखनेका मेरा विचार था, परंतु जैसी स्वास्य चाहिये वैसी न होनेसे केवल

* कांचनके आभूषणमें संग्रहण करनेके योग्य रत्नको यदि कांचमें स्थान दिया, सो वह रत्न रुदन करता है ऐसा नहीं, और वहां शोभा पाता है ऐसाभी नहीं, किन्तु वैसी योजना करनेवालेके चातुर्यकी मात्र चर्चा होती है।

गद्यमें करना पड़ा । श्लोकोंकी योजना कई हस्तलिखित तथा मुद्रित पुस्तकोंको एकत्र करके ठीक की गई हैं । भाषांतरमें अर्थ व्यंजकताके निमित्त ऊपरसे लाये गये शब्द ( ) इस चिह्नके बीचमें रक्खे गये हैं । ऐसा करनेकी कुछ वडी आवश्यकता न थी क्योंकि श्लोकका भाव भाषामें दरशा देना ही बस है परन्तु कोई कोई यह आक्षेप करने लगते हैं कि मूलका अर्थ न करके मनमाना भाव लिख दिया है इस कारण मैंने मूलको न छोड भली भांति अर्थ स्पष्ट करनेके हेतु उपरोक्त चिह्नमें आवश्यक शब्द लिख दिये हैं । जो शब्द अथवा वाक्य किसीका 'अर्थ' है वह ( ) इस प्रकारके कोष्टकमें रक्खा गया है । जहां जहां नूतन छंद आये हैं वहां उनके नाम भी लिखे हैं; लक्षण विशेष उपयोगी न होनेके कारण नहीं लिखा गया । भामिनीविलासांतर्गत 'औपच्छंदसिक' वृत्तको मैंने 'माल्यभारा' नामसे लिखा है । यह नाम ग्रंथान्तरमें पाया भी जाता है और सरल भी है; इसीसे उसका प्रयोग किया है । विशेषस्थलोंमें अलंकारादिक भी लिख दिये गए हैं; उनका लालन साहित्यज्ञ करैं होंगे ।

१४ प्रस्तुत पुस्तककी भूमिका लिखनेमें जो जो मुझे आवश्यक समझ पडा और जो जो जगन्नाथरायके विषयमें वार्त्ता मिली सो सो मैंने समावेशित की । ऐसा करनेमें अन्य विषयोंका भी संक्षिप्त विवेचन होता गया है क्योंकि अंगांगीभावसे उनका भी कुछ न कुछ इस लेखसे संबंध है यह उपक्रम, पुस्तकके परिमाणसे विशेष दीर्घावयवयी हुआ, तस्मात् अब वाचकोंसे क्षमा मांग मैं यहीं इसकी समाप्ति करता हूं ।

झांसी
१८ सप्टेंबर १८९१ } महावीर प्रसाद द्विवेदी ।

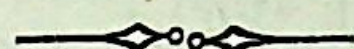
भाद्रपद शुक्ल १५ भृगौ १९४८

श्रीः

अथ भामिनीविलासः ।

भाषाटीकासहितः ।

प्रथमः प्रास्ताविकविलासः ।



माधुर्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसंभूता ॥
पिबतामनल्पसुखदावसुधायांममसुधाकविता ॥ १ ॥

माधुर्यकी सीमाको प्राप्त होनेवाली, विद्यारूपी सागरके मंथन से उत्पत्ति पानेवाली, पान करने में अत्यानन्दकी देनेवाली, (यह) मेरी कविता संसारमें अमृत (के समान) है ।

दिगंते श्रूयंते मदमलिनगंडाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ॥
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पांडित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः ॥२॥

मदोदक से जिनके गंडस्थल मलिन हो गए हैं ऐसे मदोन्मत्त हस्ती दिगंतमें हैं (इस प्रकारके शब्द लोगोंके मुख

---

१ यह आर्या छन्द है । इसमें कही हुई पंडितराज जगन्नाथजी की गर्वोक्ति अक्षरशः सत्य है यह कोई भी गुणज्ञ, जिसने इनके किये हुये ग्रन्थों का अवलोकन किया है, मानैगा । २ यह शिखरिणी छंद है ।

से) सुनाई पडते हैं, (और आसमंताद्भागमें केवल) करुणा पात्र हस्तिनी तथा क्षुद्र पशु मात्र (दृष्टिगोचर होते) हैं, तो ऐसे समय में मृगराज जो सिंह वह अपने अत्यंत तीव्र नखों की पांडित्य कहां प्रकट करे ? (किसी राजाको बहुत काल तक युद्ध अथवा किसी पंडित की शास्त्रार्थ न करते देख यदि कोई शंका करे तो उसका निवारण इस अन्योक्ति से करना चाहिए कि शत्रु अथवा वादानुवाद करनेवाला तो कोई रहा ही नहीं पराक्रम अथवा पांडित्य कहां प्रकट की जाय ? हस्तियोंका दिगंतरमें वास वर्णन करके कालिदासादि कविप्रभृति तथा विक्रमादित्यादि राजप्रभृतिके यशमात्रका स्थिर रह जाना सूचित किया)

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खल-
त्परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः ॥
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम् ॥ ३ ॥

प्रफुल्लित कमल पंक्तियोंके गिरेहुए परागसे सुगंधित मानसरोवरके जलमें जिसकी तरुण अवस्था गई अर्थात् व्यतीत हुई ऐसा वही हंस श्रेष्ठ वृद्धावस्थामें अनेक मंडूक परिपूर्ण एक तुच्छ जलाशयमें किस कारण आया ? (एक उ-

---

१ पृथ्वी छन्द है ।

मत्त पुरुषको नष्ट कार्य करते देख उसकी निंदा करने को यह अच्छी अन्योक्ति हैं ।

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरीगणे ।
मौनं मुंचति किंच कैरवकुले कामेधनुर्धुन्वति ॥
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थानकामेऽधुना ।
धातः किंतु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः॥४॥

चन्द्रदर्शन की लालसा से चंचल नेत्र वाली चकोरी जिस समय पूर्व दिशा की ओर देखरही हैं, चन्द्रविकासी कमल खिल रहे हैं; भगवान् पंचशर अपने धनुष की प्रत्यंचा को चढा रहे हैं और मानवती स्त्रियों के मान छुट रहे हैं उस समय ऐसे कार्य होते देख हे विधे चन्द्रमा पर मेघाच्छादनकरना क्या तुझे उचित है ? (कार्य सुफल होते समय यदि कोई विघ्न करै तो उसकी दुष्टता इस अन्योक्ति से सूचित करना चाहिये) ॥

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं ।
तव किमपि लिहंतो मंजु गुंजंतु भृंगाः ॥
दिशिदिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन् ।
परिमलमयमन्यो बान्धवो गंन्धवाहः ॥ ५ ॥

हे प्रफुल्लित कमल ! तेरे गिरे हुए पराग को ग्रहण करके

---

१ शार्दूल विक्रीडित छंद है । २ मालिनी छंद है ।

तेरे निकट ही भ्रमर मंजु गुंजार करते रहैं परन्तु यह तेरा दूसरा बंधु पवन अनपेक्षित होकर भी तेरी सौरभ को सर्व ओर ले जाता है (अर्थात् भ्रमर अपेक्षित होकर केवल अपना ही अर्थ सिद्ध करके तेरे निकटहीं तेरी प्रशंसा करते हैं दूर नहीं जाते; परन्तु पवन को तेरी सौरभ ग्रहण करने की इच्छा भी नहीं तथापि वह उस को लेकर स्वयं सुगंधित हो दूसरों को भी उससे लाभ पहुँचाता है और अनेक दिशाओं में भ्रमण करता हुआ तेरे गुण को प्रगट करता है।) कोई ऐसे होते हैं कि अपने अर्थ लाभ उठाकर जिससे लाभ हुआ उसका वहीं कुछ वर्णन करते हैं सो उचित ही है क्योंकि अपने हित का पलटा देना योग्य है परन्तु कोई सत्पुरुष निरपेक्षित होकर भी केवल दूसरोंके गुण प्रकाश करने को उनकी सेवा में उपस्थित होते हैं और ऐसा करके स्वयं प्रशंसा पात्र हो दूसरों को भी पावन करते हैं)।

समुपागतवति दैवादवहेलांकुटजमधुकरे माऽगाः ॥
मकरंदतुंदिलानामरविंदानामयंमहामान्यः ॥ ६ ॥

हे कुटज, [अल्प मकरंद के धारण करने वाले वृक्ष] इस मधुकर की, जो दैवयोग से तेरे निकट आगया है; हेलना न कर यह रसके समूह संचुचुहाते कमलों को भी महा मान्य है (इस प्रकार अप्रस्तुत कुटज वृत्तांत वर्णन करके इस अन्योक्ति से

आर्या छंद है।

जो मनुष्य किसी राजमान्य पंडित अथवा अपर सत्पुरुषका अनादर करना चाहता है उसकी मूर्खता प्रगट करनी चाहिये॥)

तावत्कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन् ॥ यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ॥ ७ ॥

हे कोकिल ! वनांतर में वासकरके विरस दिनों को (जिन वनों में फूल नहीं होते अर्थात् हेमंत और शिशिर ऋतु) तब तक काट, जबतक कोई आम्रवृक्ष भ्रमर युक्त होकर न खिलै (गुणग्राहक न होनेसे गुणी जनों का समाधान इस अन्योक्तिसे करना चाहिये ॥)

कमलिनि मलिनीकरोषि चेतः
किमिति बकैरवहेलिताऽनभिज्ञैः ॥
परिणतमकरंदमार्मिकास्ते
जगति भवंतु चिरायुषो मिलिंदाः ॥ ८ ॥

हे कमलिनि ! यदि तेरे उत्तम मकरंद के मर्म जानने वाले भ्रमर, संसार में जीवित हैं तो बकों की हेलना से तू अपने चित्त को क्यों खेदित करती है ? (किसी पंडितकी अवज्ञा यदि मूर्खने की तो उसका समाधान इस अन्योक्ति द्वारा भली भाँति हो सकता है)

नितरां नीचोऽस्मीति त्वं खेदं कूप मा कदापि कृथाः।

अत्यंतसरसहृदयो यतःपरेषां गुणंगृहीतासि ॥ ९ ॥

हे कूप ! मैं नीचा अर्थात् अधोभागस्थित हूं" ऐसा समझ चित्त में खेद न कर क्योंकि तू अत्यंत सरस हृदय और दूसरों के गुण का ग्रहण करनेवाला है (यदि कोई नीच कुल में जन्म पाकर गुणग्राहक और सरस हृदय है तो उसको अपने नीचत्व पै खेद न करना चाहिये, गुणग्राहकता और दया यह मनुष्यके प्रधान गुण हैं)

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत ॥
कुटजे खलु तेनेहा तेनेहा मधुकरेण कथम् ॥१०॥

जिस मधुकर ने मधुसमूहसंयुक्त प्रफुल्लित कमल में अपने दिन व्यतीत किये उसने कुटज वृक्ष पर जाने की हाय ! कैसे आकांक्षा की (महादानी जनों अथवा राजाओंके निकट बहुतकाल तक रहकर यदि कोई पंडित अथवा कवि किसी साधारण मनुष्य की याचना करने को गया तो उसके भूल की इस अन्योक्ति से सूचना करनी चाहिये)

अयि मलयज महिमाऽयं कस्य गिरामस्तु विषयस्ते।
उद्गिरतो यद्गरलं फणिनःपुष्णासिपरिमलोद्गारैः॥११॥

हे मलयज ! [चंदन] तेरी महिमा कौन वर्णन कर सकता है जो सर्प तेरे ऊपर गरल वमन करते हैं

---

१ गुण (रस्सी) यहा द्व्यर्थक है ।

[डालते हैं] उन्हीं को तू (दंड देकर उलटा) अपनी सुगन्ध से पोषित करता है, (साधुजनों के साथ अपकार भी करने से वे उपकार ही मानते हैं)

पाटीर तवपटीयान्कः परिपाटीमिमामुरीकर्तुम् ॥
यत्पिषतामपि नृणां पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम् ॥ १२ ॥

हे पाटीर ! [चंदन] तेरी परिपाटी [पद्धति] को ग्रहण करने में कौन समर्थ है ? जो तुझे पीसते हैं उन्हें भी अपने चूर्ण की सौरभसे तू पुष्ट करता है ! (सज्जनों को यदि कोई दुःख भी देवै तो वे दुःख देनेवाले को उसके अपकृत्य पर ध्यान न देकर पलटे में सुखही देते हैं)

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुनान्यःकुलव्रतं पालयिष्यति कः ॥१३॥

हे हंस ! यदि नीर से क्षीर को विलग करने में तूही आलस्य करैगा तो फिर इस संसार में और दूसरा कौन अपनी कुलकानि [कुलकी परिपाटी] का पालन करेगा (यदि राजा महाराजा अथवा सज्जन पुरुष ही उत्तम कार्य करनेमें अथवा अपनी मर्यादा के पालन में आलस करेंगे तो फिर साधारण मनुष्य रीति तथा नीति विरुद्ध करने में क्यों सकुचेंगे)

उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजंगमपुंगवाः ॥
अन्तः साक्षाद्द्राक्षादीक्षागुरवो जयंति केऽपि जनाः १४

कोई कोई सत्पुरुष ऊपर से तो सर्प समान क्रूर और खड्ग की धारा के समान तीक्ष्ण दिखाई देवे हैं परंतु अंतःकरण में परमोत्तम द्राक्षा के तुल्य मीठा उपदेश देने में समर्थ होते हैं (साधारण सज्जन की प्रशंसा है)

स्वच्छन्दं दलदरविन्द ते मरन्दं
विन्दन्तो विदधतु गुंजितं मिलिंदाः ॥
आमोदानथ हरिदंतराणि नेतुं
नैवान्यो जगति समीरणात्प्रवीणः ॥ १५ ॥

हे प्रफुल्लित कमल ! तेरे स्वच्छंद मकरंद को ग्रहण करके भ्रमर गुंजार करते रहैं परन्तु पवनके अतिरिक्त तेरी सौरभ को सर्व दिशाओं में ले जाने को दूसरा और कोई समर्थ नहीं। (राजाओं के यहां अनेक पंडित और गुणीजनों का पालन तो होता ही है परन्तु बिना कवियोंके राजा के गुण तथा पराक्रमका वर्णन दूर देशों में नहीं हो सकता)

यांते मय्यचिरान्निदाघमिहिरज्वालाशतैः शुष्कतां
गन्ता कं प्रति पांथसंततिरसौ संतापमालाकुला ॥
एवं यस्य निरंतराधिपटलैर्नित्यं वपुः क्षीयते ।

---

१ प्रहर्षिणी छन्द है । २ शार्दूलविक्रीडित' ।

धन्यं जीवनमस्य मार्गसरसो धिग्वारिधीनां जनुः॥ १६॥

ग्रीष्मकालके सूर्यकी परमप्रचंड ज्वालासे मेरे शीघ्रही शुष्क हो जानेपर ये पिपासाकुल पथिक किसके निकट जावेंगे ? ऐसा कहने वाला मार्गका तडाग, जिसका शरीर निरंतर आपत्तियोंसे क्षीण होता है, धन्य है. परंतु अखंड जल परिपूर्ण सागरको धिक्कार है (क्योंकि वह उपकार करनेमें समर्थ नहीं) (तात्पर्य--धनाढय होकर भी दान न दिया तो धिक्कार है और अल्प वैभवमें जिसने परोपकार किया तो फिर क्या कहना , उसीका जीवन सुफल है ।)

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतंगा[1]
भृंगा रसालमुकुलानि श्रसमायन्ते ॥
संकोचमंचितसरस्त्वयि दीनदीने
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु ॥ १७ ॥

हे सरोवर ! तेरे शुष्क हो जानेपर (तेरे जलवासी पक्षी तो आकाशको उड जावेंगे, और (तेरे जलोत्पन्न कमलों पै गुंजार करनेवाले) भृंग आम्र कलिकाओंका आश्रय लेवेंगे, परन्तु इस महादीन मीनकी हाय! क्या गति होवैगी ? (दाताको निर्धनता प्राप्त होनेसे वे याचक जिनको दूसरे ठौर आश्रय मिलसकता है अन्यस्थलमें जाकर निर्वाह करैंगे

१ वसंततिलका छंद ।

परंतु जो निराश्रित हैं उनकी क्या दशा होगी ? उनको तो और कहीं विश्राम लेनेका ठौरही नहीं ?)

मधुप इव मारुतेऽस्मिन् मा सौरभलोभमम्बुजनि मंस्थाः ॥ लोकानामेव मुदे महितोऽप्यात्माऽमुनार्थितां नीतः ॥ १८ ॥

हे कमल ! जिसप्रकार तू अपनी सौरभका लोभ भ्रमरोंसे करता है (अर्थात् भ्रमरोंके त्राससे रात्रिमें मुकुलित होकर उन्हें अपनी सौरभ अथवा पराग नहीं लेने देता) वैसा पवनसे न कर; इसने लोकोपकारार्थ अपनी श्रेष्ठ आत्मा तक भी याचकोंको दे दिया है (अर्थात् जीवमात्रको सुगंधित करताहै) तात्पर्य—अपर याचकोंको दान देनेसे दाता चाहै अपना मुख मोरे परंतु कवि जनोंके साथ वैसा व्यवहार उचित नहीं क्योंकि वे दातृत्वका वर्णन देश देशांतरोंमें करते हैं ।

गुंजति मंजु मिलिंदे मा मालति मानमौनमुपयासीः । शिरसा वदान्यगुरवः सादरमेनं वहन्तिसुरतरवः ॥१९॥

हे मालति ! भ्रमरोंके मंजु गुंजार करनेपर तू मान तथा मौन धारण न कर (अर्थात् उनको अपना रस लेनेदे) क्योंकि ये महादानी कल्पवृक्षको भी शिरसा वंद्य हैं (अल्प धनवानोंके पास यदि दैवयोगसे कोई गुणीजन आजा

तो उनको दान देनेमें संकुच न करनी चाहिये क्योंकि बडे बडे राजा महाराजा भी उनका सत्कार करते हैं)

> यैस्त्वं गुणगणवानपि सतां द्विजिह्वैरसेव्यतां नीतः॥
> तानपि वहसि पटीरज किं कथयामस्त्वदीयमौन्नत्यम् ॥ २० ॥

हे चंदनवृक्ष ! जिन सर्पोंने तुझ गुणवान्को सज्जनों की सेवाके योग्य न रक्खा (अर्थात् तुझे सर्प सहित देख सत्पुरुषोंको तेरे निकट आनेमें भय उत्पन्न किया) उन्हींको तू धारण किये हुए है इससे तेरी योग्यता का वर्णन कैसे कर सकताहूं ? (दुष्टोंको भी एक वार ग्रहण करके त्याग नही करता इससे प्रशंसनीय है अथवा व्याज स्तुति भी सूचित होती है कि तू अविवेकी है क्योंकि सदैव अपने निकट सर्पोंको स्थान देता है जिससे साधुजन भयके मारे तेरे पार्श्ववर्ती नहीं होते किसी मनुष्यकी कुसंगति वरणन करनेमें दोनों प्रकारके अर्थोंका प्रयोग होसकता है)

> गाहितमखिलं गहनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
> सहकार न प्रपेदे मधुपेन भवत्समं जगति ॥ २१ ॥

हे आम्रवृक्ष । मधुपने सारा धन ढूंढा और आसपासके सर्व वृक्ष देखे परंतु तेरे समान उससे दूसरा न मिला (किसीकी भी प्रशंसा करनेमें इस अन्योक्तिका उपयोग होसकता है.)

अपनीतपरिमलांतरकथे पदं न्यस्य देवतरुकुसुमे ॥
पुष्पान्तरेऽपि गतुं वाञ्छसि चेद्भ्रमरधन्योऽसि॥२२॥

हे भ्रमर ! अद्वितीय सुगंधमय मंदार पुष्प निवास करके अपर पुष्पमें तुझ जाने वालेको धन्य है (सत्संगका त्याग करके कुसंग करने वालोंकी इस अन्योक्तिसे कविने व्याज स्तुतिकी है)

तटिनि चिरायविचारय विन्ध्यभुवस्तवपवित्रायाः ॥
शुष्यंत्या अपि युक्तं किं खलु रथ्योदकादानम्॥२३॥

हे सरिते ! तू स्वयं विचार कर कि विंध्याचलके (जिस भागसे होकर तू निकली है उस भागकी) तेरी पवित्र भूमि तेरे शुष्क होजाने पर भी क्या मार्गस्थ अल्प तडागोंसे जल लेनेकी इच्छा करैगी (अर्थात् न करैगी सत्संगतिका वियोग होजानेसे भी सज्जन दुष्ट संगति कदापि अंगीकार नहीं करते)

पत्रफलपुष्पलक्ष्म्या कदाप्यदृष्टं वृतं च खलु शूकैः॥
उपसर्पेम भवंतं बर्बर वद कस्य लोभेन ॥ २४ ॥

हे बर्बरवृक्ष ! पत्र, फल और फूलसे सुशोभित तो तुझे कभी देखाही नही वरन तू उलटा काटोंसे युक्त है फिर भला तू ही कह कि हम किस लोभसे तेरे निकट प्राप्त होवें (यदि कोई दुष्टजन कहे कि हमारे पास सज्जन क्यों नहीं

आते तो उसका उत्तर इस अन्योक्ति में है दुष्टों से उपकार तो होनेही का नहीं उलटे उनसे कुवाच्य सुनने पड़ते हैं)

एकस्त्वं गहनेऽस्मिन् कोकिल न कलं कदाचिदपि कुर्याः। साजात्यशंकयाऽमी न त्वां निघ्नंतु निर्दयाः काकाः ॥ २५ ॥

हे कोकिल ! तू अकेला इस वन में कदापि शब्द न कर जिससे तुझे अपना सजातीय समझे ये निर्दई काक तुझे न मारैं अर्थात् जो तू बोलेगी तो काक यह समझैंगे कि हमारे सजातियों ने यह बोली कहां सीखी, इससे वे तेरी अवश्य ताडना करैंगे. अथवा, तू उनसे अपने बालकों का प्रतिपालन कराती है इससे वे मनमें मत्सर मान तेरा अनहित चाहैंगे (दुर्जनों की सभा में सज्जन को मौनही धारण करना उचित है)

तरुकुलसुखमापहरां जनयंतीं जगतिजीवजातार्तिम्। केनगुणेनभवानीतातहिमानीमिमां वहसि ॥२६॥

हे हिमालय ! वृक्षों की शोभा को नाशकरनेवाले और संसारिक प्राणियों को क्लेश देनेवाले इस हिम समूह को तू क्यों धारण करता है ? (सत्पुरुष ने यदि कोई कुत्सित कार्य किया तो उसको इस अन्योक्ति से शिक्षा करनी चाहिये

---

१ विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपंडितानाम् '।

इससे प्रशंसा और निंदा दोनों प्रकट होती हैं। दोष जान त्याग नहीं करता यह सुझाना तो निंदा हुई और दोषयुक्त शरण आये हुए मनुष्य को अंगीकार करके प्रतिपालन करता है यह कहना प्रशंसा हुई)

कलभ तवांतिकमागतमलिमेनं माकदाप्यवज्ञासीः।
अपि दानसुंदराणांद्विपधुर्याणामयंशिरोधार्य्यः२७॥

हे गजशावक! तेरे निकट आए हुए इस भ्रमर की कदापि अवज्ञा न कर, इसे श्रेष्ठ मत्त गज भी अपने शिर पर धारण करते हैं (अल्प दानी के पास यदि दैववशात् कोई गुणी गया तो उसकी इच्छा सुफल करनी चाहिए क्योंकि उसका मान महान दानशूर भी करते हैं)

अमरतरुकुसुमसौरभसेवनसंपूर्णसकलकामस्य।
पुष्पांतरसेवेयं भ्रमरस्य विडम्बना महती॥ २८॥

कल्पद्रुम के पुष्प की सौरभ के सेवन से जिस भ्रमर के सर्व कार्य फलीभूत हुए हैं उसकी, दूसरे पुष्पों की सेवा कर ने से महा विडम्बना है (चक्रवर्ती राजाओं अथवा सत्पुरुषों का द्वार त्याग यदि कोई गुणी अपर द्वार का अवलंबन करै अथवा किसी नीच पुरुषसे मित्रता संपादन करे तो उस को विड़म्बना अवश्यही होगी)

पृष्टाः खलु परपुष्टाः परितोदृष्टाश्चविटपिनः सर्वे॥

माकंद न प्रपेदे मधुपेन तवोपमा जगति ॥ २९ ॥

हे आम्रवृक्ष ! मधुप ने कोकिलसे पूंछा और आसमंताद्भागके सर्व वृक्षों को भी देखा परन्तु तेरी उपमा देने योग्य उसे एक भी न मिला (उस दाता, राजा अथवा गुणी की प्रशंसा है जिसकी समता दूसरा नहीं कर सकता)

तोयैरल्पैरपि करुणया भीमभानौ निदाघे ।
मालाकार व्यरचि भवता या तरोरस्य पुष्टिः ॥
किंचित्मात्रं जनयितुमिह प्रावृषेण्येन वारां !
धारासारानपि विकिरता विश्वतो वारिदेन ॥ ३० ॥

हे मालाकार ! [मालि] ग्रीष्म ऋतुमें प्रचंड सूर्यसे संतप्त कियेगये इस वृक्षको अल्पोदक सिंचनसे जैसा तूने पुष्ट किया है वैसी पुष्टि वर्षा कालमें सर्व ओर वारिधारा वरसाने वाले मेघसे क्या हो सकेगी ? अर्थात् न हो सकेगी (आपत्ति में किंचित् मात्र सहायता करने से जो सुख होता है सो सुदिन में अतुल संपत्ति दान से भी होना संभव नहीं)

आरामाधिपतिर्विवेकविकलो नूनं रसा नीरसा
वात्याभिः परुषीकृता दश दिशश्चंडातपो दुःसहः ॥
एवं धन्वति चंपकस्य सकले संहारहेतावपि
त्वं सिंचन्नमृतेनतोयद कुतोऽप्याविष्कृतोवेधसा ३१॥

---

१ मंदाक्रांता छंद ।

मालाकार [माली] विवेक शून्य हो गया है, रस नीरस हो गये हैं, दशो दिशा प्रचंड पवनसे अगम्य होगई हैं सूर्यातप असह्य हो गई है, इस प्रकार मरुदेशोत्पन्न चंपक वृक्ष के संहार करने की जिस समय में सर्व सामग्री हुई उस समय में हे मेघ ! उसे जल से सिंचन करके प्राणरक्षा करने के लिये तुझे ब्रह्माने कहां से उत्पन्न किया ? (कार्य बिगडते बिगडते यदि कोई अनायास सहायता देकर उसे ठीक करदेवै तो उस पुरुष को इस अन्योक्ति से धन्यवाद दे सकेंगे)

न यत्र स्थेमानं दधुरतिभयभ्रांतनयनाः
गलद्दानोद्रेकभ्रमदलिकदंबाः करटिनः ॥
लुठन्मुक्ताभारे भवति परलोकं गतवतो
हरेरद्यद्वारे शिवशिवशिवानां कलकलः ॥ ३२ ॥

जिस द्वार पर, मदोदक पान की इच्छा से आए हुए भ्रमर समूह को धारण करने वाले और भयसे चकित नेत्रों वाले करिवर एक क्षण भी न ठहरतेथे और जहां गजमुक्ता बिखरे रहते थे ऐसे उसी द्वार पै शिव, शिव, आज सिंह के परलोकवासी होने से शृगाली शब्द करती हैं । (वीरों दाताओं तथा सत्पुरुषोंके पश्चात् कभी कभी ऐसीही विपरीत दशा होती है)

दधानः प्रेमाणं तरुषु समभावेन विपुलम् ।

---

१ 'शिखरिणी ।'

न मालाकारोऽसावकृत करुणां बालबकुले ॥
अयंतु द्राग्द्यत् कुसुमनिकराणां परिमलैः ।
दिगन्तानातेने मधुपकुलझंकारभरितान् ॥ ३३ ॥

वाटिकाके सब वृक्षोंपर समभावसे प्रीति रख जिस बालबकुलके ऊपर मालाकार [माली] ने करुणा न की अर्थात् न सींचा उसी (बालबकुल) ने मधुप समूह जिनपै गुंजार कर रहा है ऐसे अपने पुष्पोंकी सुगंधसे दिशाओंको शीघ्रही परिपूर्ण किया (गुरुने यदि किसी अल्प वयस्क शिष्यपर विशेष ध्यान न भी दिया तोभी यदि वह चतुर और बुद्धिमान है तो शीघ्रही विद्याओंमें प्रवीण होकर अपने तथा गुरुके गुणोंका प्रकाश सब ओर करता है)

मूलं स्थूलमतीवबन्धनदृढं शाखाः शतंमांसलाः ।
वासो दुर्गमहीधरे तरुपते कुत्रास्ति भीतिस्तव ॥
एकः किंतु मनागयं जनयति स्वान्ते ममाधिज्वर-
ज्वालालीवलयीभवन्नकरुणोदावानलो घस्मरः ३४॥

हे तरुपते ! मूल तो तुम्हारी परम स्थूल है; आलबाल [थाला] दृढ बँधाहै, शाखायें पुष्ट हैं, निवास तुम्हारा दुर्ग पर्वत पर है, तस्मात् तुम्हें किसका भय है ? परंतु एक यह ज्वाल जालसे चक्राकार हुवा दयारहित, सर्व भक्षक, अग्नि मेरे अंतःकरणको कुछ संतप्त करता है (किसी धर्मात्मा

पुरुषको देख, दुष्टोंके द्वारा उसके अपकार होनेकी शंका मनमें रख कोई सत्पुरुष तरुप्रत्यन्योक्तिसे अपना विषाद दुष्टजनोंकी दुष्टता और धार्मिक मनुष्योंकी अवस्था वर्णन करता है)

ग्रीष्मेभीष्मतरैःकरैर्दिनकृतादग्धोऽपि यश्चातक-
स्त्वांध्यायन्घनवासरान्कथमपिद्राघीयसोनीतवान्
दैवाल्लोचनगोचरेण भवता तस्मिन्निदानीं यदि
स्वीचक्रे करकानिपातनकृपा तत् कं प्रतिब्रूमहे॥३५॥

हे मेघ ! जिस चातक ने ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी प्रचंड किरणोंसे दग्ध हो तेरा ध्यान धर जैसे तैसे बडेबडे दिन काटे. दैवयोगसे उसके सन्मुख प्राप्त होकर यदि तूही उपल प्रहार करने लगा तो फिर किससे क्या कहै ? (जब पालन कर्ता ही प्राणहर्ता हुवा तब महा ही अन्याय समझना चाहिए)

दवदहनजटालज्वालजालाहतानाम् ।
परि गलितलतानां म्लायतां भूरुहाणाम् ॥
अपि जलधर शैलश्रेणिशृंगेषु तोयम् ।
वितरसि बहु कोऽयं श्रीमदस्तावकीनः ॥ ३६ ॥

हे जलधर ! दावानल समूहसे, लतागलित, मलीनवृक्षों का (अनादर करके) तू शैलशृंगोंपर जल वरसाता है, यह तेरा कैसा श्रीमद है ? (जिसे आवश्यकता है उसको विस्मरण

करके जिसको किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं उसे दान देने- वाले धनमदमत्त राजा अथवा धनिक का वृत्तांत है)

शृण्वन् पुरः परुषगर्जितमस्य हंत ।
रे पांथ विस्मितमना न मनागपि स्याः ॥
विश्वार्तिवारणसमर्पितजीवितोऽयम् ।
नाकर्णितः किमु सखे भवताऽम्बुवाहः ॥ ३७ ॥

हे पथिक ! इस कठोर गर्जना को सन्मुख श्रवण कर तू अपने मनमें किंचित् भी विस्मित नहो ! सखे ! संसार दुःख शमनार्थ निज जीवनको अर्पण करने वाले इस अंबुवाह [जलधर] का नाम क्या तूने कभी सुना है ! (परम परोपकारी परंतु कटुवादी सत्पुरुष का वृत्तांत है)

सौरभ्यं भुवनत्रयेऽपि विदितं शैत्यंतु लोकोत्तरम् ।
कीर्तिः किंच दिगंगनांगणगता किंत्वेतदेकंशृणु ॥
सर्वानेव गुणानियं निगिरति श्रीखण्ड ते सुन्दरान् ।
उज्झंती खलु कोटरेषु गरलज्वालां द्विजिह्वावली ३८

हे चंदन ! तेरी सुगन्ध त्रैलोक्यमें विदित है, तेरी शीत- लता सबसे श्रेष्ठ है, तेरी कीर्ति दशौं दिशाओं में व्याप्त है, परंतु इतनी एक बात सुन कि तेरे खोखलवासी, विष उगलनेवाले, सर्प इन तेरे सर्व सुन्दर गुणों को नाश करते हैं (सत्पुरुष के सद्गुण दुष्ट समागम से लोप हो जाते हैं)

नापेक्षा न च दाक्षिण्यं न प्रीतिर्न च संगतिः ॥
तथापि हरते तापं लोकानामुन्नतो घनः ॥ ३९ ॥

ऊंचे मेघ को न तो किसी बात की अपेक्षा है, न चतुरता है, न प्रीति है, न संगति है तथापि (इतना होने पै भी) वह मनुष्योंकी ताप हरण करता है । (साधु अकारण ही परोपकारी होते हैं)

समुत्पत्तिः स्वच्छे सरसि हरिहस्ते निवसति-
र्विलासः पद्मायाः सुरहृदयहारी परिमलः ॥
गुणैरेतैरन्यैरपि च ललितस्याम्बुज तव ।
द्विजोत्तंसे हंसे यदि रतिरतीवोन्नतिरियम् ॥ ४० ॥

हे अम्बुज ! स्वच्छ सरोवर से तेरी उत्पत्ति है, विष्णुके हाथ में तेरा निवास है, लक्ष्मी का तू विलासस्थान है, सुगंध तेरी देवताओं के भी मन को हरण करने वाली है, परन्तु जो तू परिश्रेष्ठ हंस से प्रीति करता तो ये और तेरे अपर गुण तुझ को परमोन्नत पदवी को पहुँचाते । अर्थात् गुण तेरे अभी भी श्रेयस्कर हैं परन्तु जो तू हंसको अपना मित्र बनाता तो अत्यन्त ही प्रतिष्ठापात्र होता । यदि दाताराजा अथवा किसी सज्जनमें कुछ दोष सूचित करता है तो यह अन्योक्ति सामयिक होगी)

---

१ अनुष्टुप् ।

साकं ग्रावगणैर्लुठंति मणयस्तीरेऽर्कबिम्बोपमा।
नीरे नीरचरैः समं स भगवान् निद्राति नारायणः॥
एवं वीक्ष्य तवाविवेकमपि च प्रौढिं परामुन्नतेः।
किं निन्दान्यथवा स्तवानि कथय क्षीरार्णवत्वामहम्

हे क्षीरसागर ! तेरे तीर पर सूर्य बिम्ब सदृश दीप्तिमान मणियों पाषाणों के साथ पड़ी रहती हैं और तेरे जलमें जलजन्तुओंके बीच भगवान नारायण शयन करते हैं इस प्रकारका तेरा अविवेक तथा वैभव देख मैं तेरी निंदा करूं अथवा प्रशंसा करूं यह तूही कह ? (जहां सत्कर्मके साथ असत्कर्म भी होते हैं वहां इस अन्योक्ति का भाव घटित करना चाहिए)

किं खलु रत्नैरेतैः किं पुनरभ्रायितेन वपुषा ते।
सलिलमपि यन्न तावक, मर्णवदनं प्रयाति
तृषितानाम् ॥ ४२ ॥

हे सागर ! तेरे अमूल्य रत्नों तथा तेरे मेघवत् (सुन्दर) शरीरसे क्या लाभ है जो तेरा जल भी पिपासाकुल प्राणियों के मुख में नहीं पडता ! (यदि श्रीमानने दान न दिया तो उसका धन व्यर्थ है)

इयत्यां सम्पत्तावपि च सलिलानां त्वमधुना।
न तृष्णामार्त्तानां हरसि यदि कासार सहसा॥

निदाघे चंडांशौ किरति परितोऽङ्गारनिकरम् ।
कृशीभूतः केषामहह परिहर्तासि खलु ताम् ॥४३॥

हे कासार ! [सरोवर] अपनी सलिलरूपी संपत्ति से जो तू इस समय में पिपासाकुलितों की तृष्णा नहीं हरण करता है तो फिर ग्रीष्म ऋतुमें प्रचंड सूर्य के सर्व ओर बरसाये हुए अंगारों से शुष्क हो जाने पर किसकी पिपासा शांत करैगा। (धनवान होकर यदि दान न दिया तो निर्धनत्व को प्राप्त होने से याचकों की इच्छा कैसे पूरण हो सकैगी ?)

अयि रोषमुरीकरोषि नो चेत् किमपि त्वां प्रति वारिधे वदामः ॥ जलदेन तवार्थिना विमुक्तान्यपि तोयानि महान् न हा जहासि ॥ ४४ ॥

हे वारिधे ! [समुद्र] यदि तू रोष न करै तो मैं तुझ से कुछ कहूं । (कहना यही है कि) तू महान होकर भी अपने याचक मेघ के त्यागे हुए जल को नहीं छोडता ? (जिस वस्तु को एक वार किसी को देडाला उसे फिर फेर लेना सत्पुरुषों को न चाहिये)

न वारयामो भवतीं विशंतीम् ।
वर्षानदिस्रोतसि जह्नुजायाः ॥
न युक्तमेतत्तु पुरो यदस्या–
स्तरंगभंगान्प्रकटीकरोषि ॥ ४५ ॥

हे वर्षा ऋतु की नदि ! गंगा के प्रवाह में जाने को मैं तुझे निषेध नहीं करता परन्तु उसकी तरंगों को तुझे भंग न करना चाहिए (बडे बडे विद्वज्जनों की सभा में अल्पज्ञानी पंडितों का जाना अनुचित नहीं परंतु वहां अपनी चातुर्यता बतला कर उनकी विद्वत्ता को लोप करने का प्रयत्न कदापि न करना चाहिए (इस अन्योक्ति का कई प्रसंगों में उपयोग हो सकता है)

पौलोमीपतिकानने विलसतां गीर्वाणभूमीरुहां
येनाघ्रातसमुज्झितानि कुसुमान्याजघ्रिरे निर्जरैः ॥
तस्मिन्नद्य मधुव्रते विधिवशान्माध्वीकमाकांक्षति
त्वं चेदंचसि लोभमम्बुज तदा किं त्वां प्रतिब्रूमहे४६

हे अंबुज ! जिस मधुकरने इन्द्र के नंदनवन में लगे हुए देवद्रुमों के पुष्पों की सुगंध, देवताओं की नासिका तक पहुं-चने के पहिलेही ले ले कर छोड दिया, दैववशात् अब तुझ से मकरंद पाने की इच्छा करने वाले उसी मधुकर से यदि तू अपने मकरंद का लोभ करता है तो मैं तुझ से क्या कहूं। (यदि किसी महान् पंडित् ने दैवयोग से राजद्वार छोड कि-सी सामान्य पुरुष के पास आय कुछ याचना की और उसकी ओर ध्यान न दिया तो याचक का क्या गया, जिससे याचना की उसी की मान हानि हुई ऐसा समझना चाहिए)

प्रारम्भे कुसुमाकरस्य परितो यस्योल्लसन्मंजरी।
पुञ्जे मञ्जुलगुञ्जितानि रचयंस्तानातनोरुत्सवान् ॥

तस्मिन्नद्य रसालशाखिनि दशां दैवात् कृशामंचति
त्वंचेन्मुंचसि चंचरीकविनयंनीचस्त्वदन्योऽस्तिकः ४७

हे चंचरीक ! वसंतके आतेही जिस के चारों ओर कुसुमित मंजरी के पुंज में मंजु गुंजार करते हुए तूने बडा सुख पाया अब दैववशात् उसी आम्रवृक्ष को कृशता (पुष्प विहीनत्व) प्राप्त होनेसे यदि तू उससे स्नेह न रक्खेगा तो तुझसे विशेष नीच और कौन है ? (जब तक स्वामी संपत्तिमान् है तब तक उसके यहां अनेक भोगकर अभाग्यवश उसे निर्धनत्व प्राप्त होनेसे केवल नीच ही उसका त्याग करते हैं, भले मनुष्य यदि सुखमें साथी हुए तो दुखमें भी अवश्य होते हैं)

भुक्ता मृणालपटली भवता निपीता-
न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि ॥
रे राजहंस वद तस्य सरोवरस्य
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः ॥ ४८ ॥

अरे राजहंस ! जिस सरोवरमें निवास करके तूने मृणाल तंतुओं का भोजन किया, जल पिया और चन्द्रविकाशी कमलों का भी सेवन किया उस सरोवर का किस कृत्य से तूं प्रत्युपकार करैगा ? संसारमें बहुत से मनुष्य दूसरे की द्रव्यसे अनेक सुख भोग करते हैं परंतु अपनी एक फूटी कौडी तक व्यय नहीं करते, किं बहुना प्रत्युपकार क्या है जानतेही नहीं !

---

१ उपेन्द्रवज्रा ॥

उपरोक्त अन्योक्तिसे इस प्रकारके मनुष्योंका वृत्तांत प्रतीत होता है ।

एणीगणेषु गुरुगर्वनिमीलिताक्षः
किं कृष्णसार खलु खेलसि काननेऽस्मिन् ॥
सीमामिमां कलयभिन्नकरीन्द्रकुंभ-
मुक्तामयीं हरिविहारवसुन्धरायाः ॥ ४९ ॥

हे कृष्णसार हरिण ! गर्वसे अंध होकर हरिणियोंके बीच इस वनमें तू क्यों खेलता है ? अरे सिंहविहारभूमिकी इस सीमा को, जो गजेन्द्रोंके विदीर्ण गंडस्थलसे गिरेहुए मुक्ताओं से सुशोभित है (शब्दार्थ समझ) क्या तू नहीं जानता ? (महान् चक्रवर्ती नरेशके राज्य में अविवेकसे आए हुए एक लघुतम राजाका वर्णन है)

जठरज्वलनज्वलताप्यपगतशंकं समागतापि पुरः ।
करिणामरिणा हरिणाली हन्यतां नु कथम् ॥५०॥

निःशंक सन्मुख [शरण] आएहुए हरिणके झुण्डको करिवर शत्रु सिंह क्षुधार्त होने परभी कैसे मारे ! (कपट त्याग निःशंक होकर यदि वैरी शरण आया तो नीतिज्ञ उसे नहीं मारवे । इसमें शब्दालंकारांतर्गत 'यमक' अलंकार है)

येन भिन्नकरिकुंभविस्खलन्
मौक्तिकावलिभिरंचिता मही ॥

---

१ रथोद्धता छन्द है।

अद्य तेन हरिणान्तिके कथं
कथ्यतां नु हरिणा पराक्रमः ॥ ५१ ॥

जिस सिंहने करिकुंभको विदारण करके उससे गिरे हुए गजमुक्तओंसे पृथ्वीको परिपूरित किया वह अब हरिणोंके मारनेमें अपने पराक्रमको भला किस प्रकार वर्णन करैगा? (बडे बडे बली शत्रुओंके शिरश्छेदन करनेवाले वीर पुरुष सामान्य बैरीके ऊपर हाथ नहीं उठाते)

स्थितिं नो रे दध्याः क्षणमपि मदान्धेक्षण सखे
गजश्रेणीनाथ त्वमिह जटिलायां वनभुवि ॥
असौ कुम्भिभ्रान्त्या खरनखरविद्रावितमहा
गुरुग्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरिपतिः ॥ ५२ ॥

अरे मदांध, मित्र, गजश्रेणी नाथ [गजेंद्र]! तू इस गहन वनभूमिमें क्षणमात्र भी न ठहर; (क्योंकि) हस्तीकी शंका करके बडे बडे पत्थरोंके ढेरको भी अपने तीक्ष्ण नखोंसे विदारण करके इस गिरिकीगुहामें सिंहराज शयन करता है (महा प्रबल महीप जिसे शत्रुका उत्कर्ष किंचित्‌भी सहन नहीं होता. उसके राज्यमें अपने बलके गर्वसे आए हुए अल्पवैभव वाले राजाका वृत्तांत है)

गिरिगेह्वरेषु गुरुगर्वगुम्फितो ॥
गजराजपोत न कदापि सञ्चरेः ॥

---

१ हस्तीका मस्तक । २ मंजुभाषिणी छन्द है ।

यदि बुध्यते हरिशिशुः स्तनन्धयो
भविता करेणुपरिशेषिता मही ॥ ५३ ॥

हे गजशावक ! गर्वकरके तू इस गिरिगुहामें कदापि संचार न कर (क्योंकि) यदि दुग्धपान करनेवाला सिंहपुत्र जानैगा तो (तुझे मार) पृथ्वी को गजिनीशेष करैगा अर्थात् पृथ्वीमें गजिनीही रहजायगी तू नहीं (बडे शौर्यवान शत्रु-पुत्रके देशमें प्रवेश की इच्छा करने वाले राजाके बालकको उपदेश है)

निसर्गादारामे तरुकुलसमारोपसुकृती
कृती मालाकारो बकुलमपि कुत्रापि निदधे ॥
इदं को जानीते यदयमिह कोणान्तरगतो
जगज्जालं कर्ता कुसुमभरसौरभ्यभरितम् ॥ ५४ ॥

वृक्षोंके लगानेमें परम कुशल, पुण्यवान्, मालीने सहज स्वभावसे वाटिकामें कहीं (विनाविचारे) बकुलको स्थापन किया. परंतु यह किसको विदित था कि यह एक कोनेमें लगा हुआ बकुलका पेड अपने पुष्पोंकी सौरभसे संसारको परिपूरित करैगा (विद्वानों की सभामें यदि आदर भी न हुआ और योग्य आसन भी न मिला तो भी समय पाकर वह अपने गुणोंका प्रकाश करते ही हैं)

यस्मिन् वेल्लति सर्वतः परिचलत्कल्लोलकोलाहलै-

मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमं हृदि हरिदंतावलाः पेदिरे ॥
सोऽयं तुंगतिमिंगिलांगकवलीकारक्रियाकोविदः
क्रोडे क्रीडतु कस्य केलिकलहत्यक्तार्णवो राघवः॥५५

सागरके जलमें जिसके क्रीडा करनेसे चारों ओर उठी हुई चंचल तरंगोंके कोलाहलको श्रवण करके दिग्गजोंके मनमें मंदरा चल (पर्वत) से समुद्रमंथन का भ्रमन हुआ वही. बडे बडे मत्स्योंको भक्षण करनेकी क्रियामें कुशल राघवनामी मत्स्यराज कलहके कारण समुद्रको छोड और कहां केलि करैगा ? (यदि एक महान महिपाल अल्प कलह होनेसे अपनी राजधानीको त्यागना चाहे तो उचित नहीं इस अन्योक्तिको कई दृष्टान्तोंमें घटित कर सकते हैं)

लूनं मत्तमतंगजैः कियदपि च्छिन्नं तुषारार्दितैः
शिष्टं ग्रीष्मजभानुतीक्ष्णकिरणैर्भस्मीकृतं काननम् ॥
एषा कोणगता मुहुः परिमलैरामोदयन्ती दिशो
हा कष्टं ललिता लवंगलतिकादावाग्निना दह्यते५६॥

कुछ वनको मत्त गजोंने तोड डाला. कुछ तुषारसे नष्ट होगया, शेष ग्रीष्मर्तुके सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंने भस्म कर दिया, रही यह सुन्दर लवंगलता जो एक कोनेमें लगी हुई अपनी सुगंधसे सर्व दिशाओंको सुगंधित करती थी उसे दावाग्नि दहन करती है, हाय हाय बडे कष्टकी

बात है। (विजय किये हुए देश को छिन्न भिन्न करने के अनंतर मूल से शेष रही वही नगरी जिसमें सज्जनोंका वास था और जहां धर्म होता था उसके भी नष्ट करने पै कटि बांधने वाले दुराचारी राजा का वृत्तांत है)

स्वर्लोकस्य शिखामणिः सुरतरुग्रामस्य धामाद्भुतम्।
पौलोमीपुरुहूतयोः परिणतिः पुण्यावलीनामसि ॥
सत्यं नन्दन किन्त्विदंसहृदयैर्नित्यं विधिः प्रार्थ्यते
त्वत्तः खांडवरंगतांडवनटो दूरेऽस्तु वैश्वानरः ॥५७॥

हे नन्दनवन ! तू सुरलोकका शिखामणि है देवद्रुमों के उत्पन्न होनेका एक अद्भुत स्थान है; इन्द्र और इन्द्राणी की परमोत्तम पुण्यका परिणाम [फल] है, यह सब सत्य है परन्तु हम ईश्वरसे नित्य यही प्रार्थना करते हैं कि खांडव वनरूपी रंगभूमिमें नृत्य करनेवाला नटरूपी अग्नि तुझ से सदैव दूर रहै (कोई सत्पुरुष किसी धार्मिक श्रेष्ठका वर्णन करके यह प्रार्थना करता है कि दुष्टजन तुझे क्लेशकारी न होवें)

स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने
चंचूकोटिविपाटिताररपुटो यास्याम्यहं पञ्जरात ॥
एवं कीरवरे मनोरथमयं पीयूषमास्वादय-
त्यन्तः सम्प्रविवेशवारणकराकारः फणिग्रामणीः५८

जब मनुष्य अपने अपने कार्यमें मग्न होकर मुझ से दूर

चले जावेंगे तब मैं अपनी चोंचसे खिड़की को तोड पिंजरेसे निकल जाऊँगा, इस प्रकार के मनोरथरूपी पीयूषका स्वाद कीर [सुवा] ले ही रहा था कि गजशुण्डाके समान एक विशाल सर्पने पिंजरे में प्रवेश किया (मनुष्य सुखार्थ प्रयत्न करने को उद्यत होते हैं परंतु अभाग्यवश कार्यारंभ के पहिलेही प्रतिकूल बातें होने लगती हैं)

रे चाञ्चल्यजुषोमृगाः श्रितनगाः कल्लोलमालाकुला-
मेतामम्बुधिगामिनीं व्यवसिताः संगाहितुं वा कथम्
अत्रैवोच्छलदम्बुनिर्भरमहावर्तैः समावर्तितो
यद्ग्राहेण रसातलं पुनरसौ नीतो गजग्रामणीः॥५९॥

हे पर्वताश्रित चञ्चल मृग ! जिसके ऊर्ध्वगामी जल समूह की विशाल भँवरोंमें पड़ने वाले गजेन्द्रको भी ग्राह[मगर] ने रसातल को पहुँचाया उस, तरंगों से व्याप्त, सागरगामिनी महानदीकी थाह लेने को तुम कैसे उद्युक्त हुए ? (जिस कार्य में बड़ों को ही यश न आया उसके करने को छोटों का कटिबद्ध होना मूर्खतामात्र है)

पिब स्तन्यं पोत त्वमिह मददन्तावलधिया
दृगन्तानाधत्से किमिति हरिदन्तेषु परुषान् ॥
त्रयाणां लोकानामपि हृदयतापं परिहरन् ।
अयं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः ॥६०॥

---

१ में क्रीडा करने को ।

हे सिंह किशोर ! तुम दुग्ध पान करो, मत्तगजेन्द्रकी भ्रांति करके दिशाओंकी ओर कठोर दृष्टिसे न देखो (क्योंकि जिसे तुम उन्मत्त हस्ती समझते हो वह) यह त्रैलोक्यकी तापको हरनेवाला और गंभीर ध्वनि करनेवाला नीलवर्ण नवीन जलधर है (किसी सत्पुरुषको अपना शत्रु जान उसके ऊपर क्रोध करनेवाले राजकुमार का वृत्तांत प्रतीत होता है)

धीरध्वनिभिरलं ते नीरद मे मासिको गर्भः ।
उन्मदवारणबुद्ध्या मध्ये जठरं समुच्छलति ॥६१॥

(सिंहनी कहती है कि) हे मेघ ! तू अपनी गंभीरध्वनि को बस कर क्योंकि तेरे शब्दको मत्तगजेंद्रकी गर्जना समझ एक महीनेका ममगर्भस्थ बालक उदरमें उछलने लगता है (प्रतापी पुरुषोंको गर्भमें भी वैरीका नाद सहन नहीं होता) इस आर्यामें ' संबंधातिशयोक्ति ' अलंकार है ।

वेतंडगंडकंडूतिपांडित्यपरिपंथिना ॥
हरिणा हरिणालीषु कथ्यतां कः पराक्रमः ॥६२॥

गजेंगडस्थलकी[1] कंडू [खुजली] को नाश करनेवाला सिंह हरिणोंमें अपने किस पराक्रमको वर्णन करै ? (वीर मनुष्य स्व समान पुरुषों ही में अपना पराक्रम प्रकट करतेहैं नीचोंमें नहीं)

---

१ हस्ती का मस्तक ॥

नीराम्निर्मलतो जनिर्मधुरता वामामुखस्पर्धिनी ।
वासो यस्य हरेः करे परिमलो गीर्वाणचेतोहरः ॥
सर्वस्वं तदहो महाकविगिरां कामस्य चाम्भोरुह ।
त्वंचेत्प्रीतिमुरीकरोषि मधुपे तत्त्वां किमाचक्ष्महे६३

हे कमल ! उत्पत्ति तेरी निर्मल जलसे है. मधुरता तेरी स्त्रीमुखमाधुर्यकी भी इर्षा करती है; वास तेरा नारायण के हाथमें है, सुगंध तेरी देवताओंके चित्तको हरणकरती है और स्वयं तू महा कवियोंकी वाणी तथा कामदेवका सर्वस्व है (इतने अपूर्व गुण तुझमें होकर भी) तू मधुपसे प्रीति रखता है (तस्मात्) अब हम तुझसे क्या कहें ? अर्थात् तू नितान्त श्रेष्ठ है (सत्पुरुष उच्च पदवीको प्राप्त होने पै लघुजनों से घृणा नहीं करते किंतु यदि वे किसी कार्यार्थ उनके निकट आवे तो उचित सत्कार करके उनकी इच्छा पूर्ण करते हैं)

लीलामुकुलितनयनं किंसुखशयनं समातनुषे ॥
परिणामविषमहरिणा करिनायक वर्द्धते वैरम् ॥६४॥

हे गजेन्द्र ! प्रेमसे नेत्रोंको बंद करके तू आनंदसे क्यों शयन करता है ? (अरे तू नहीं जानता कि) परिणाममें विषमता [प्राणनाश] को पहुँचानेवाला सिंह वैरभाव बढाता जाता है (पर राज्यमें आकर निश्चित हो विलासानंदमें निमग्न होनेवाले राजाको कोई सत्पुरुष उपदेश देता है इस अन्योक्तिका उपयोग कई प्रसंगोंमें हो सकता है)

विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यांति नो बहिः ॥
याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव ॥ ६८ ॥

विद्वानोंके मुखसे सहसा [बिना विचारे] कोई शब्द नहीं निकलता यदि निकला तो हाथीके दंत समान निकल कर पराङ्मुख (मिथ्या) नहीं होता. (भाव सरल है-इसमें 'पूर्णोपमा' अलंकार जानना)

औदार्यं भुवनत्रयेऽपि विदितं संभूतिरम्भोनिधे-
र्वासो नन्दनकानने परिमलो गीर्व्वाणचेतोहरः ॥
एवं दातृगुरोर्गुणाः सुरतरोः सर्व्वेऽपि लोकोत्तराः
स्यादर्थिप्रवरार्थितार्पणविधावेको विवेकोयदि॥६६॥

हे सुरतरु ! उदारता तेरी त्रिभुवनमें विदित है, उत्पत्ति तेरी सागर से है, निवास तेरा नन्दनवनमें है; सुगन्ध तेरी देवताओंके भी चित्तको हरण करती है. इस प्रकार तुझ दानि श्रेष्ठके ये गुण, यदि तू याचकोंकी इच्छा पूर्ण करनेमें विवेक धारण करता तो परमोत्तम होते (याचक दान लेनेके योग्य हैं अथवा नहीं इसका विचार न करना दाताओंको उचित नहीं)

एको विश्वसतां हराम्यपघृणः प्राणानहं प्राणिना-
मित्येवंपरिचिन्त्य मा स्वमनसि व्याधाऽनुतापं कृथाः
भूपानां भवनेषु किंच विमलक्षेत्रेषु गूढाशयाः

साधूनामरयो वसंति कति नो त्वत्तुल्यकक्षाः
खलाः ॥ ६७ ॥

हे व्याध ! तू अपने मनमें इस प्रकारकी चिंता करके सन्तापित न हो कि संसारमें प्राणियोंके प्राण नाश करने वाला मैंही एक मात्र निर्दई हूँ (अरे) साधुओं [सत्पुरुषों] के प्राणनिधन करनेवाले और गूढ़ अभिप्रायवाले [मुखमें एक मन में दूसरी बात के रखनेवाले] तेरे समान दुष्टजन राजमंदिरों या श्रेष्ठ तीर्थों में थोडे नहीं हैं अर्थात् बहुत हैं (तात्पर्य यह कि क्षेत्रों और राजद्वारों में भी अनीति होती है। इस श्लोक में व्याध की सामान्यता और खलों की विशेषता वर्णन की इससे अर्थान्तरन्यासालंकार हुआ)

विश्वास्य मधुरवचनैःसाधून्ये वंचयंति नम्रतमाः ॥
तानपि दधासि मातः काश्यपि यातस्तवापि च
विवेकः ॥ ६८ ॥

हे वसुंधरे जननि ! तेरा भी विवेक जाता रहा (क्योंकि शरण आएहुओं में पात्रापात्र का विचार न कर सबका रक्षण करने को उद्यता हो) उन मनुष्यों को भी (तू अपने ऊपर) धारण करती है जो मधुर वचनों से विश्वास उत्पन्न करके साधुओंसे भी छल करते हैं (सज्जन, शरणागत के दोषों पै ध्यान न देकर उसका परिपालन नहीं करते हैं। तेरा भी विवेक गया इस प्रकारसे पृथ्वी की निंदा करके

उसके परोपकार गुणका वर्णन किया इससे इस आर्यामें 'व्याजस्तुति' और 'व्याजनिंदा' अलंकार की संसृष्टि हुई)

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्तिः ।
अन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम् ॥
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरार्तहृद्या ।
विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ॥ ६९ ॥

विद्वानोंके व्यापार, वाणीसे वर्णन नहीं हो सकते संसारका हित करनेवाली उनकी चित्तवृत्ति एक प्रकारकी और उनके बोलने चालनेकी पद्धति और ही प्रकारकी होती है, उनके कार्य लोकोत्तर हुआ करते हैं और उनका स्वरूप दुःखियोंके दुःखका हरण करनेवाला होता है. (सामान्य रीतिसे विद्वान प्रशंसा है)

आपद्गतः किल महाशयचक्रवर्ती ।
विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम् ॥
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ता-
ल्लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति ॥ ७० ॥

श्रेष्ठजन आपत्तिकालमें उस उदारताको विस्तार करते हैं जिसे उन्होंने पहिले कभी (सुखावस्थामें) नहीं प्रकाश किया था (सत्यही है) अग्निमें रखनेसे कालागुरु अपनी परमोत्तम सुगंधको प्रकट करता है । तात्पर्य यह कि सत्पुरुष

उदार तो होते ही हैं परंतु विपत्तिमें वे अपने विशेष उदारत्वको प्रकट करते हैं (इस श्लोकमें सत्पुरुषोंके उदारत्वका सामान्य रीतिसे वर्णन करके कालागुरुके विशेष उदाहणसे अर्थको दृढ़ किया इससे 'अर्थांतरन्यास' अलंकार हुआ)

विश्वाभिरामगुणगौरवगुम्फितानाम् ।
रोषोऽपि निर्मलधियां रमणीय एव ॥
लोकम्पृणैः परिमलैः परिपूरितस्य ।
काश्मीरजस्य कटुतापि नितांतरम्या ॥ ७१ ॥

संसारमें परमोत्तम गुणगौरवको धारणकरने वाले निर्मल बुद्धि पुरुषोंका क्रोधभी मनोहर होता है मनुष्योंको संतोष देनेवाली सुगंधसे परिपूरित केशर [कुंकुम] की कटुता भी अच्छी लगती है (इसमें भी'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है)

लीलालुण्ठितशारदापुरमहासम्पद्भराणां पुरो ।
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो बल्गन्ति चेत्पामराः ॥
अद्य श्वः फणिनां शकुंतशिशवो दन्तावलानां शशाः।
सिंहानाञ्च सुखेन मूर्द्धसुपदं धास्यंति शालावृकाः७२

पंडितोंके मुखसे निकले हुए दो चार शब्दोंकी चोरी करके यदि दुष्टजन, लीलासे सारदापुरकी संपत्ति [पांडित्य] को लूटनेवाले अर्थात् महाविद्वान् पुरुषोंके सन्मुख प्रगल्भता करैं तो (यह समझना) कि आज कालमें सर्पोंके सिरपै पक्षियोंके बालक, गजोंके सिरपै शशा और सिंहों

के शिर पै शृगाल पैर रक्खेंगे (इसमें प्रस्तुत मूर्खोंका वर्णन करके अप्रस्तुत शशा, शृगालादिका वृत्त कह उनके गुणकी सादृश्यता सूचितकी इससे ' तुल्ययोगिता; अलंकार हुआ यदि पंडितोंके सन्मुख मूर्ख वाचालता करने लगें तो शृगालोंका सिंहोंके मस्तक पै पाद रखना इत्यादि कुछ आश्चर्य नहीं इस प्रकार कहनेसे ' काव्यार्थापत्ति ' अलंकार भी भासित हुआ)

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् । अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति[1] ॥ ७३ ॥

गुरुके कठोर शब्दोंसे जिनका तिरस्कार होता है वेही मनुष्य महत्वको प्राप्त होते हैं. बिना खराद पै चढाई हुई मणियां राजाओंके मुकुटमें कदापि वास नहीं पातीं ('अर्थान्तरन्यास' अलंकार है)

वहति विषधरान् पटीरजन्मा शिरसि मषीपटलं दधाति दीपः । विधुरपि भजतेतरां कलंकं पिशुनजनं खलु बिभ्रति क्षितीन्द्राः[2] ॥ ७४ ॥

चंदन सर्पोंको शिरपर रहने देता है; दीपक कालिमाको रखता है. चन्द्रमा कलंकको धारण करता है । (और) नरेश दुष्टजनोंको(अपने समीप भागमें) स्थान देते हैं (इस

---

१ यह ' उपजाति ' छंद है । २ ' पुष्पिताग्रा ' छन्द है ।

श्लोकमें वहति, दधाति, भजति और बिभ्रति इन चारों क्रियाओंका एक ही सा अर्थ होता है इससे यदि इनमेंसे एकही लिखा जाता तो भी चारोंका बोध हो जाता परंतु ऐसा न करके प्रत्येक कर्ताकी क्रिया पृथक् पृथक् लिखी इससे ' अर्थावृत्तिदीपक, अलंकार हुआ)

सत्पूरुषः खलु हिताचरणैरमन्दमानन्दयत्यखिल-
लोकमनुक्त एव। आराधितः कथय केनकरैरुदा-
रैरिन्दुर्विकाशयति कैरविणीकुलानि ॥ ७५ ॥

सत्पुरुष बिना कहेही अपने हितकर आचरणसे अखिल-लोकको परमानन्दित करते हैं। कहिए चन्द्रमाकी किसने आराधना [पूजा] की है कि जिससे वह अपनी उदार किरणोंसे कुमोदिनी कुलको विकसित करता है ? (अर्थात् सज्जन स्वभावहीसे जगतका हित करते हैं किसीको उन्हें कहने की आवश्यकता नहीं पडती। सत्पुरुष का वृत्तांत वर्णन करके चन्द्रमा का उदाहरण दिया इससे ' दृष्टांत ' अलंकार हुआ)

कृतमपि महोपकारं पय इव पीत्वा निरातङ्कम्।
प्रत्युत हन्तुं यतते काकोदरसोदरखलो जगति॥७६॥

सर्पके समान संसारमें खल मनुष्य अपने ऊपर किये गये महदुपकारको दुग्ध सदृश निर्भय पान करके उलटा (उपकार करनेवालेके) प्राण लेनेको उद्यत होते हैं (इसमें

'पूर्णोपमा, अलंकार है-उपमान, उपमेय वाचक और धर्म सब मिलते हैं)

खलः कापट्यदोषेण दूरेणैव विसृज्यते ।
अपायशंकिभिर्लोकैर्विषेणाशीविषो यथा ॥ ७७ ॥

आपत्ति की शंकासे, विष होनेके कारण सर्पके समान कपट दोष युक्त खल, दूरहीसे त्याग किया जाता है ।

पाण्डित्यं परिहृत्य यस्य हि कृते बन्दित्वमालम्बितं दुष्प्राप्यं मनसापि यो गुरुतरैः क्लेशैः पदं प्रापितः ॥ रूढस्तत्र स चेन्निगीर्य्य सकलां पूर्व्वोपकारावलीं दुष्टः प्रत्यवतिष्ठते तदधुना कस्मै किमाचक्ष्महे ॥ ७८ ॥

पांडित्य को त्याग (राजाके सन्मुख) वंदित्व [बंदीजनों अर्थात् प्रशंसा करनेवालोंके धर्मका] अवलंबन करके वह पदवी जो चित्तसे भी मिलनेको महा कठिन थी, मैंने जिस दुष्टको महत क्लेशसे प्राप्त कराया वह पद पै आरूढ हो मेरे पूर्वकृत सर्वोपकारोंका कौर [विस्मरण] करके उलटा शत्रु भाव प्रकट करता है इससे अब इस समयमें मैं किसके पास जाऊँ और क्या कहूं ? अर्थात् अब कुछ भाषण करनेका अवसरही नहीं ।

परार्थव्यासंगादुपजहदपि स्वार्थपरतामभेदैकत्वं यो वहति गुणभूतेषु सततम् ॥ स्वभावाद्य-

स्यान्तः स्फुरति ललितोदात्तमहिमा समर्थो यो
नित्यं स जयतितरां कोऽपि पुरुषः ॥ ७९ ॥

स्वार्थका त्याग करके परार्थके लिए सर्व मनुष्योंको जो संतत भेदरहित एक भावसे देखते हैं (शब्दार्थ—प्राणियोंके प्रति भेदविगत एकत्वको संतत धारण करते हैं) जिनके अंतःकरणमें स्वभावही से (दूसरोंकी) सुन्दर तथा श्रेष्ठ महिमा स्फुरण होती है और जो नित्य (दूसरोंके निवारण करनेमें समर्थ हैं ऐसे सत्पुरु (संसारमें) जय पावैं। (साधारण सज्जन प्रशंसा है—इसमें 'समासोक्ति' अलंकार है। इस श्लोकमें 'तत्पुरुष समास' और सत्पुरुष [सज्जन] की समता पाई जाती है अर्थात् जो गुण 'तत्पुरुष समास' में अर्थ भेदसे होते हैं वही सत्पुरुषके भी कहे हैं)

वंशभवो गुणवानपि सङ्गविशेषेण पूज्यते पु-
रुषः। नहि तूंबीफलविकलो वीणादण्डः प्रया-
ति महिमानम् ॥ ८० ॥

सद्वंश [उत्तम कुल] में जन्म पाने और गुणवान होने पै भी सत्संगसे मनुष्य पूज्य होता है (अर्थात् विना सत्संगके इन गुणोंसे युक्तभी मनुष्य शोभास्पद नहीं होता) वीणाका दंड जो वांसका बनता है विना तुंबीके महिमा

---

१ 'वंश' शब्द श्लिष्ट है; उसका अर्थ 'कुल' का और वांस, काभी हैं।

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति । निखिलरसायनमहितो गन्धेनोग्रेण- लशुन इव ॥ ८१ ॥

अनेक गुणसम्पन्न पदार्थ एक दोषके होनेसे भी निन्दित गिना जाता है । सर्व औषधियोंमें श्रेष्ठ लहसुन जैसे अपनी तीक्ष्ण गंधके कारण निंद्य है (इसमें ' पूर्णोपमा ' है)

उपकारमेव तनुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम् ॥ मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः ॥८२॥

सज्जन विपत्तिमें भी उपकार करते हैं, इसमें मृतक अथवा मूर्छित (अर्द्ध मृतक) पारद (पारा) रस दृष्टांत है । अर्थात् पारा चाहै मृतक हो चाहै अर्द्ध मृतक हो परन्तु गुण वह अवश्य करैगा (दृष्टांतालंकार है)

वनांते खेलन्ती शशकशिशुमालोक्य चकिता भुजप्रांतं भर्तुर्भजति भयहर्तुः सपदि या । अहो सेयं सीता दशवदननीता हलरदैः परीता रक्षोभिः श्रयति विवशा कामपि दशाम् ॥ ८३ ॥

वनमें क्रीडा करती हुई जो सीता एक शशाके बालक को भी देख चकित हो भयके नाश, करनेवाले अपने पति श्री रामचन्द्रजीको; आलिंगन करती थी, हाय अब वही दशाननसे हरणकी हुई और बडे बडे हल समान दन्तोंवाले राक्षसोंसे व्याप्त, परवश कैसी दशा (अर्थात्–दुर्दशा) को

प्राप्त हैं। (सुष्ठु राजाके राज्यसे दुष्ट राजा की राज्य में विवश वास करनेवाली पीडित प्रजा का वृत्तांत प्रतीत होता है)

पुरो गीर्व्वाणानां निजभुजबलाहोपुरुषिकाम-
होकारंकारं पुरभिदि शरं सम्मुखतया ॥ स्मर-
स्य स्वर्ब्बालानयनशुभमालार्च्चनपदं वपुः सद्यो
भालानलभसितजालास्पदमभूत् ॥ ८४ ॥

देवताओं के सन्मुख अपने भुजबल के अहंकार को वारंवार कहनेवाले और शंकरके ऊपर बाणको चलानेवाले कामका (भी) शरीर, जिसका (अत्यन्त सुन्दर होनेके कारण) देवांगना भी दर्शन करती थीं (शंकरके) मस्तक से उत्पन्न हुई अग्निसे जलकर शीघ्रही भस्म होगया ! तात्पर्य परम पराक्रमी, स्वरूपवान और गुणवान पुरुष भी महात्माओंका अपकार करनेसे नष्ट हो जाते हैं (काम शंकरको विजय करनेकी इच्छासे गया परंतु वहां वह स्वयं भस्म हुआ अर्थात् कारण कुछ कारज कुछ हुआ इससे 'विषम अलंकार' समझना)

युक्तं सभायां खलु मर्कटानां शाखास्तरूणां
मृदुलासनानि । सुभाषितं चीत्कृतिरातिथेयी
दंतैर्नखाग्रैश्च विपाटनानि ॥ ८५ ॥

---

१ 'उपजाति 'छंद है यह इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राके मेलसे वर्तताहै ।

बंदरों की सभामें वृक्षों की शाखाओंके ही मृदुल आसन चीत्कारही के सुभाषित[1] और दंतों और नखोंसे काटने ही के अतिथि सत्कार का होना उचित है (अविचारी मनुष्य जो चाहते हैं, करते हैं न बैठने के स्थानमें बैठते हैं न कहने की बात कहते हैं और न करने का कार्य करते हैं। चीत्कार मारना दंतोंसे दंश करना इत्यादि कपि की नीच जाति का धर्मही है ऐसा कहने से 'सम' अलंकार हुआ)

किं तीर्थं हरिपादपद्मभजनं किं रत्नमच्छा मतिः-
किं शास्त्रं श्रवणेन यस्य गलति द्वैतांधकारोदयः।
किं मित्रं सततोपकाररसिकं तत्त्वावबोधःसखे कः
शत्रुर्वद खेदनकुशलो दुर्व्वासनासंचयः॥ ८६॥

नारायणके चरणकमल का भजन है तो तीर्थों से क्या? मति श्रेष्ठ है तो रत्नोंसे क्या? जिसका श्रेष्ठ द्वैतरूपी[2] अंधकार नष्ट होगया है उसको शास्त्रोंके श्रवण करनेसे क्या? जिसे सर्व तत्त्वों का बोध है उसे संतत उपकार करने वाले मित्रों से क्या! और परम क्लेशकारी दुर्वासना से (बढके) शत्रु क्या? हे मित्र! यह तू मुझसे कह? (इस श्लोकमें तीर्थादिक उपमेयों की निरर्थकता वर्णन करने से 'प्रतीप' अलंकार हुआ)

निष्णातोऽपि च वेदान्ते साधुत्वं नैति दुर्ज्जनः।
चिरं जलनिधौ मग्नो मैनाक इवमार्द्दवम्॥ ८७॥

---

१ अच्छे भाषण, २ ईश्वर और जीव में भेद मानना।

सर्वदा समुद्रमें निमग्न रहते भी मैनाक पर्वत जैसे कोमलताको नहीं प्राप्त होता, वैसे दुर्जन मनुष्य वेद पारंगत होनेपर भी साधुता को नही धारण करता (इसमें 'पूर्णोपमा' और 'अवज्ञा' अलंकार की संसृष्टि है)

नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम् ।
शाखिनोऽन्ये विराजंते खंडयंते चंदनद्रुमाः ॥८८॥

गुण गौरव (गुणज्ञता) का धिक्कार करके अर्थात् अपने गुण प्रकट न करके निर्गुणताही (भावार्थ मौनताही) धारण करना उचित है (क्योंकि जैसे वनके अपर वृक्षों के होते भी चन्दन ही काटा जाता है) उसी प्रकार गुणीजन कोही अधिक त्रास दिये जाते इसमें ('अर्थान्तरन्यास' अलंकार है)

परोपसर्पणानंतचिंतानलशिखाशतैः ॥ अचुम्बितांतःकरणाः साधु जीवंति पादपाः ॥ ८९ ॥

दूसरेके आगमन की चिंतारूपी अनल की शिखा [ज्योति] ने जिनके अंतःकरण को नहीं चुम्बन किया अर्थात् नहीं जलाया उन वृक्षोंका जीवन श्रेष्ठ है (पादपान्योक्ति से कवि यह जताता है कि कार्यार्थ दूसरे पुरुषोंके आनेसे जो दुक्खी नहीं होते अर्थात् प्रसन्नता पूर्वक उनको इच्छा शक्त्यनुसार पूर्ण करने को तत्पर रहते हैं वेही धन्य हैं । इससे यह भी ध्वनित होता है कि कोई आत्मनिंदा करता है और कहता है कि दूसरों को पत्र, फल, पुष्प देनेमें

तनिक भी शंका न करने वाले वृक्षोंका जीवन सुफल है; मेरा नहीं, क्योंकि मेरी दशा उनकी दशासे विपरीत है)

शून्येऽपि च गुणवत्तामातन्वानः स्वकीयगुण-
जालैः । विवराणि मुद्रयन् द्रागूर्णायुरिव सुजनो
जयति ॥ ९० ॥

अपने गुणगणों से मूर्खों के हृदय में भी गुणज्ञता को स्थापन करनेवाले और (उनके) छिद्रों को शीघ्रही छिपा-नेवाले मकरी के समान सज्जन पुरुष (संसार में) जय पावें ' पूर्णोपमा ' है—मकरी की उपमा यहां बहुत ठीक दी है सज्जन अपने गुणों से मूर्खों के शून्य हृदय को आच्छादन करते हैं मकरी अपने तंतुओं (गुणों) से शून्य स्थल को आवृत करती है; सज्जन दोषों के दुराने में प्रवीण होते हैं, मकरी छिद्रों के)

खलः सज्जनकार्पासरक्षणैकहुताशनः ॥ परदुः-
खाग्निशमने मारुतः केन वर्ण्यताम् ॥ ९१ ॥

(संसार में) दुष्ट मनुष्य, सज्जनरूपी कपास को दग्ध करने के लिये अनल और परदुःखरूपी अग्निको (शमन करने के लिए) पवन के (समान) हैं; (इनका) कौन वर्णन कर सकता है? (इसमें खलों और सज्जनोंका समान रूपक कहा इससे ' अभेद रूपक ' अलंकार हुआ)

परगुह्यगुप्तिनिपुणं गुणमयमखिलैः समीहितं

नितराम् ॥ ललितांबरमिव सज्जनमाखवइव
दूषयंति खलाः ॥ ९२ ॥

दूसरे की गुह्य बात को गुप्त रखने में निपुण, गुणगण-संपन्न, सर्व प्रिय, सुन्दर वस्त्र सदृश सज्जन पुरुष को, मूष-करूपी खल दूषित करते हैं ('पूर्णोपमा' है; वस्त्र और सज्जनकी सादृश्य में जो विशेषण कहे वे द्व्यर्थिक हैं, सज्जन दूसरे की गोपन करने योग्य बात को गुप्त रखते हैं, वस्त्र शरीर के गुह्य भाग को आच्छादन करता है, सज्जन गुण-वान होते हैं वस्त्र गुण (तंतु--तागा) युक्त होता है; सज्जन सब प्रिय होते हैं वस्त्र भी सबको प्रिय है.)

कारुण्यकुसुमाकाशः शान्तिशैत्यहुताशनः ॥
यशःसौरभ्यलशुनःखलःसज्जनदुःखदः ॥ ९३ ॥

सत्पुरुषों को दुःख देनेवाले दुष्ट मनुष्य करुणारूपी कुसुम (पुष्प) को आकाश के समान हैं अर्थात् जैसे आकाश में पुष्प का होना असंभव है वैसे इनके हृदयरूपी आकाश में करुणारूपी कुसुम का होना भी संभव नहीं; शांतिरूपी शीत-लता को अग्निके समान हैं अर्थात् जहां अग्नि है वहां शीत-लता क्यों निकट आवेगी और यशरूपी सुगंध को लशुन (लहसुन) के समान हैं, लशुन में उग्रगंध होने के कारण उसके पास अपर सुगंध नहीं आती यह जगत्प्रसिद्ध बात है। (इसमें 'अभेदरूपक' अलंकार है)

धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनां मर्म्मव्यथां स्पृशति शीतभवां रुजश्च ॥ यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोस्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु ॥ ९४ ॥

जो (परोपकारार्थ) फल, फूल और पत्रोंके भारको धारण करता है, मर्मस्थानोंकी वेदना (शाखा इत्यादिकके काटनेके दुःख) तथा (अधिक) शीत पड़नेसे उत्पन्न हुए रोगोंको सहन करता है और दूसरोंके सुख हेतु अपने शरीर तक को अर्पण करता है उस दानशूर वृक्षको मैं नमस्कार करता हूं (संतत परोपकार करनेवाले सत्पुरुषोंका स्वभाव तरुवरोंही कासा होता है)

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम् ॥ व्यालाधिपञ्च यतते परिरब्धुमद्धा यो दुर्जनं वशयितुं कुरुते मनीषाम्॥९५॥

जो मनुष्य दुर्जनके वश करने की बुद्धिको उपराजता है वह (मानौ) हलाहलको पान, कालाग्निको भली भांति चुंबन और प्रत्यक्ष भुजंगराज को आलिंगन करने की इच्छा करता है (दुष्ट के वशीकरण का यत्न करनेसे मनुष्य नाश को प्राप्त होता है यह भाव)

दीनानामिह परिहाय शुष्कसस्यान्यौदार्य्यं प्र-

कटयतो महीधरेषु ॥ औन्नत्यं परममवाप्य दुर्म्मदस्य ज्ञातोऽयं जलधर तावकोऽविवेकः ॥ ९६ ॥

हे जलधर ! दीनजनोंके शुष्क धान्य (खेतों) को त्याग करके पर्वतोंके ऊपर अपनी उदारताको प्रकट करनेवाले और अत्यंत उन्नतता को प्राप्त होनेवाले तुझ दुर्मद का अविवेक मुझको विदित है पात्रापात्रका विचार न करके दान देनेवाले भूपति अथवा अपर दानी मनुष्य का वृत्तांत ध्वनित होता है।

गिरयो गुरवस्तेभ्योऽप्युर्व्वी गुर्वी ततोऽपि जगदण्डम् ॥ तस्मादप्यतिगुरवः प्रलयेप्यचला महात्मानः ॥ ९७ ॥

पर्वत श्रेष्ठ हैं, पर्वतोंसे पृथ्वी श्रेष्ठ है (क्योंकि पृथ्वी पर्वतोंको धारण करती है) पृथ्वी से ब्रह्मांड श्रेष्ठ है (कारण ब्रह्मांड पृथ्वीका आधार है ब्रह्मांडसे महात्माजन श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे प्रलय कालमें भी अचल रहते हैं अर्थात् उस समय में भी उनका नाश नहीं होता (इस आर्यामें उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व वर्णन किया इससे ‘ सार ’ अलंकार हुआ)

व्योम्नि स वासं कुरुते चित्रं निर्माति सुन्दरं पवने ॥ रचयति रेखाः सलिले चरति खले यस्तु सत्कारम् ॥ ९८ ॥

---

१ ‘ प्रहर्षिणी ’ वृत्त ।

जिसने खल का सत्कार (करके उसे प्रसन्न) किया उस ने (मानो) आकाशमें वास किया, पवनमें सुन्दर चित्र खींचा और पानीमें रेखा बनाई, (तात्पर्य-खल का प्रसन्न करना सर्वथैव असंभव है-इसमें ' उत्प्रेक्षा ' अलंकार है)

हारं वक्षसि केनापि दत्तमज्ञेन मर्कटः । लेढि जिघ्रति संक्षिप्य करोत्युन्नतमाननम् ॥ ९९ ॥

किसी मूर्ख मनुष्य के द्वारा हृदय में (पहिनाये गए) हार (को मुख में डाल उस) का स्वाद ले, सूंघ और (नेत्रोंके) निकट ले जाकर वानर मुख को उंचा उठाता है (अविज्ञ पुरुष को उत्तम पदार्थ देनेसे वह उसके गुणों को न जान उलटा उसका निरादर तथा नाश करता है । जो वस्तु खाने के योग्य नहीं उसे मुख में मेलना और उसके साथ अनेक प्रकार की चेष्टा करना कपिका स्वभावही है इससे ' स्वभावोक्ति ' अलंकार हुआ)

मलिनेऽपि रागपूर्णां विकसीतवदनामनल्पजल्पेऽपि। त्वयि चपलेऽपि च सरसां भ्रमर कथं वा सरोजिनीं त्यजसि ॥ १०० ॥

हे भ्रमर । तू कमलिनी को किस कारण से त्याग करता है ? (अरे सुन) तू मलिन है (अर्थात् कृष्णवर्ण है. तिस पै भी वह तुझसे अनुराग रखती है, तू वृथा बकवादी है (अर्थात् सर्वदा गुंजारही किया करता है;) परंतु वह विकशित वदनी रहती है, तू चंचल है (अर्थात् तेरी चित्तवृत्ति चपल

है, आज एक पुष्प पै कल दूसरे पै रमण करता है) इतने पै भी वह सरस (रसवती) रहती है। (अनुरागादि गुणों से युक्त अपनी सती स्त्री को त्यागनेवाले कामी पुरुष का वर्णन है तात्पर्य यह कि ऐसी सुलक्षण रमणी का परित्याग उचित नहीं ! प्रस्तुत कमलिनी का वृत्तांत अप्रस्तुत नायिकाके वर्णन में घटित होता है इससे 'समासोक्ति' अलंकार हुआ)

स्वार्थं धनानि धनिकात्प्रतिगृह्णतो यदास्यं भजेन्मलिनतां किमिदं विचित्रम्। गृह्णन्परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम् ॥ १०१ ॥

अपने हेतु धनवानों से (याचना पूर्वक) धन ग्रहण करनेवाले मनुष्य के मुख का मलिन होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं; (देखिए) परार्थ भी सागरसे (धन संपत्ति तो दूर रही परंतु) जल भी लेने से संपूर्ण मेघ कालिमा (कृष्णवर्णत्व) को प्राप्त होते हैं। (यथार्थ है, संसार में मांगने से नीच पदार्थ दूसरा नहीं, इस श्लोक में 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है)

जनकः सानुविशेषो जातिः काष्ठं भुजङ्गमैः सङ्गः।
स्वगुणैरेव पटीरज यातोऽसि तथापि महिमानम् १०२

हे चंदनवृक्ष! पिता तेरा पर्वत का शिखर है, जाति तेरी काष्ठ की है , संग तेरा भुजंगमों (सर्पों) का है; तथापि (इतना होने पै भी) तू अपने गुणोंसे महिमाको प्राप्त होता है (इसमें अप्रस्तुत चंदनकी प्रशंसा करके उस सत्पुरुषका वृत्त

वर्णन किया जो नीच कुलोत्पन्न और दुर्जनोंका संसर्गी होकर भी अपने सद्गुणोंसे अपनी कीर्ति संसारमें प्रसार करता है)

कस्मै हन्त फलाय सज्जन गुणग्रामार्जने सज्जसि स्वात्मोपस्करणाय चेन्मम वचः पथ्यं समाकर्णय । ये भावा हृदयं हरन्ति नितरां शोभाभरैः सम्भृतास्तैरेवास्य कलेः कलेवरपुषो दैनन्दिनं वर्द्धनम् ॥ १०३ ॥

हे सज्जन ! हाय, तू किस फलके अर्थ गुणका संचय करनेको कटि बद्ध होता है. यदि (यह अर्जन) आत्माके पोषणके लिये है तो मेरे हितकारी वचनोंको श्रवण कर, (मुझे कहना इतनाही है कि) जो मनोहर भाव तेरे मन जो हरण करते हैं वे इस शरीर पोषक [विषयासक्तता प्रवर्त्तक] कलिकाल (की दुःखद अवस्था) को प्रतिदिन बढानेवाले हैं । (गुणगणों अर्थात् सत, रज व तम संबन्धी वासनाको श्रेयस्कर जान उसीके लिए परिश्रम करने वाले पुरुषको कवि यह उपदेश देता है कि तू इस विषयमें वृथा कष्ट न कर कलिके स्वभावके प्रभावसे जगद्वासनाओंमें जो प्रवृत्त होते हैं और शरीरको सुख देनेका प्रयत्न करते वे माय पासमें दृढतर बद्ध होते जावे हैं । यह श्लोक वेदांत प्रतिपादक है. सारांश यह कि जगजालको त्याग भगवत् शरण जानेहीमें सार्थकता है)

धूमायिता दश दिशो दलितारविन्दा देहं दहन्ति द-
हना इव गन्धवाहाः। त्वामन्तरेण मृदुताम्रदलाम्रम-
ञ्जुगुञ्जन्मधुव्रत मधो किल कोकिलस्य ॥ १०४ ॥

मृदुल और अरुण रंगके पर्णोंसे युक्त आम्र वृक्षमें मंजु गुंजार करते हैं मधुप जिस (ऋतु) में ऐसे हे मधु ! [ऋतुराज] तेरे विना कोकिल, प्रफुल्लित कमलोंसे परिपूर्ण दशौ दिशा धूमित अर्थात् धूमसे परिप्लुत (सी दिखाई देती हैं) और सौरभको बहानेवाला यह पवन अग्निके तुल्य उसकी देह को दहन करता है (आश्रय वस्तुके वियोगसे जीवोंको सकल पदार्थ दुःखः हो जाते हैं यह भाव है)

भिन्ना महागिरिशिलाः करजाग्रजाग्रदुद्दामशौर्य्य-
निकरैः करटिभ्रमेण । दैवे पराचि करिणामरिणा
तथापि कुत्रापि नापि खलु हा पिशितस्य लेशः १०५

करिवरशत्रु सिंहने बड़े बड़े पर्वतोंकी शिलाओंको हस्ती समुझ अपने नखोंके प्रबल प्रतापसमूहसे विदारण किया; परंतु कष्टकी बात है कि दैव विपरीत होनेसे तौभी कहीं उसे मांसका लेश न मिला ! (शिलामें मांसका मिलना कैसे संभव हो सकता है ! तात्पर्य यह कि, ईश्वरके अनुकूल न होने से महान पराक्रमी पुरुषों को, चाहै वे जैसा उद्योग करैं, यश नहीं मिलता)

गर्जितमाकर्ण्य मनागङ्के मातुर्निशार्द्धजातो-

ऽपि हरि शिशुरुत्पतितुं द्रागङ्गान्याकुञ्च्य
लीयते निभृतम् ॥ १०६ ॥

(मेघ अथवा हस्ती अथवा अपर किसी बली वनपशु की गर्जना को श्रवण कर अर्द्ध रात्रिमें उत्पन्न हुआ सिंह-किशोर माता के गोदमें कुछ उछल और शीघ्रही सब अंगों को आंकुचित कर वहीं का वहीं लीन होगया अर्थात् अधिक शक्ति न होनेके कारण और कुछ न कर सका (तेजस्वी पुरुषों का प्रकार विलक्षण होता है ! सिंह सर्वदा गजके ऊपर आक्रमण करनेमें तत्पर रहता है परंतु इसमें स्वप्रकारकी विशेषता वर्णन की इससे 'संबंधातिशयोक्ति' अलंकार हुआ)

किमहं वदामि खलदिव्यतमं गुणपक्षपातमभि-
तो भवतः ॥ गुणशालिनो निखिलसाधुजनान्
यदहर्निशं न खलु विस्मरसि[१] ॥ १०७ ॥

हे खल ! तू गुणज्ञ सर्व सज्जन पुरुषों को निशि दिनमें (कभी भी) नहीं विस्मरण करता इससे मैं तेरे जगद्विख्यात दिव्यतम [परम श्रेष्ठ] गुणपक्षपातके विषयमें क्या कहूं ? (दुर्जन सर्वदा सत्पुरुषों से द्वेष रखते हैं ऐसा स्पष्ट न कहकर यह कहा कि तू उनको विस्मरण नहीं करता, इस प्रकारकी प्रशंसा करना निन्दा हुई इससे इस श्लोकमें 'व्याज निंदा' अलंकार समझना चाहिये)

---

१ 'प्रमिताक्षरा' छन्द है ।

रे खल तव खलु चरितं विदुषां मध्ये विविच्य वक्ष्यामि ॥ अथवालं पापात्मन् कृतया कथयापि ते हतया ॥ १०८ ॥

अरे खल ! मैं तेरे (नष्ट) चरितों को सत्पुरुषोंके बीचमें भली भांति प्रकट करूंगा (इस प्रकार का मेरा विचार था) परंतु हे पापात्मन् ! तेरे दुष्कृत्य (जिन्हें तू प्रत्यक्ष करता है, कहने में भी मेरा चित्त दुःखित होता है इससे उन महानिंद्य कर्मों) का उल्लेख भी बस है अर्थात् वैसा स्वमुखसे कहना भी मुझे असह्य है (इसमें खल चरित्र वर्णन करना अंगीकार करके फिर उसका निषेध किया इससे 'प्रतिषेध' अलंकार हुआ)

आनंदमृगदावाग्निःशीलशाखिमदद्विपः ॥
ज्ञानदीपमहावायुरयं खलसमागमः ॥ १०९ ॥

(इस संसार में) खलों का समागम आनंदरूपी मृग के (नाश करने के) लिए अग्नि; शीलरूपी वृक्षके (उखाडने के) लिए मत्त हस्ती और ज्ञानरूपी दीप के (बुझाने के) लिए प्रचंड पवन है) इसमें आनंदमृग, शील शाखि, ज्ञानदीप के प्रति खलमें कोई भेद न रख उसी अकेले को अग्नि द्विप और वायु बनाया इससे 'अभेदरूपक' अलंकार हुआ)

खलास्तु कुशलाः साधुहितप्रत्यूहकर्म्मणि ।
निपुणाः फणिनःप्राणानपहर्त्तुंनिरागसाम् ॥११०॥

निरपराधी जीवोंके प्राण हरण करनेमें (जैसे) सर्प प्रवीण होते हैं (वैसेही) सत्पुरुषोंके अहित करनेमें दुर्जन कुशल होते हैं (उपमेय जो साधु और उपमान जो सर्प इनके धर्ममें समानता कहनेसे ' प्रतिवस्तूपमा ' अलंकार हुआ)

वदनेविनिवेशिताभुजगीपिशुनानांरसनाभि-
षेणधात्रा । अनया कथमन्यथावलीढा नहि
जीवंतिजनामनागमंत्राः ॥ १११ ॥

ब्रह्माने पिशुनजनों [पर छिद्र ढूंढनेवाले पुरुषों]के मुखमें जिह्वाके मिषसे सर्पिणी स्थापनकी है, यदि (किसी को शंका उत्पन्न हो कि यह बात) अन्यथा है तो (उसके निवृत्यर्थ यही प्रश्न है कि जो जिह्वा भुजंगी नहीं तो)उसके किंचित् मात्र भी स्पर्श किये गए मंत्रहीन[अविवेकी] मनुष्य क्यों नहीं जीवे अर्थात् क्यों प्राण त्याग करतेहैं?(इसमें दुर्जनों की जिह्वाको भुजंगी कह कर अर्थ के दृढ करनेके लिए मनुष्योंका प्राणत्याग करना सहेतुक विशेषण दिया इससे ' काव्यलिंग ' अलंकार हुआ । जिह्वाके धर्म को गोपन करके सर्पिणीके धर्मके आक्षेपणसे अपह्नुति ' अलंकार भी हुआ)

कृतं महोन्नतं कृत्यमर्जितं चामलं यशः ॥ या-
वज्जीवंसखेतुभ्यंदास्यामोविपुलाशिषः ॥ ११२ ॥

हे मित्र ! तुमने परम श्रेष्ठ कार्य किया और विमल यश

---

१ यह माल्यभारा ' वृत्त है ।

संपदा इससे मैं तुझे यावज्जीवन अनेकानेक आशीर्वचन देता रहूंगा (प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हूं यह भाव) दूसरा अर्थ व्यंगसे ऐसा लगाना कि तूने उत्तम कृत्य किया अतएव विमल यश का भागी हुवा इससे जबतक प्राण हैं मैं तुझे आशीश दिया करूंगा (अपकार करनेवालेकी इस प्रकार प्रशंसा करके तो दुष्ट कृत्यसे उत्पन्न हुआ दुःख कभी न भूलूंगा यह सूचित किया)

अविरतं परकार्य्यकृतां सतां मधुरिमातिशये-
न वचोऽमृतम् । अपि च मानसमंबुनिधिर्य्य-
शोविमलशारदपार्व्वणचंद्रिका ॥ ११३ ॥

संतत परोपकार करनेवाले सत्पुरुषोंके वचन अत्यंत मधुर होनेसे अमृत (के तुल्य होते) हैं, हृदय सागर (के तुल्य) और यशशरत्कालके पूर्णिमाकी विमल चन्द्रिका (के तुल्य होता) है वचन और अमृत, हृदय और सागर, यश और चन्द्रिका का समान स्वरूप प्रतिपादन किया इससे ' अभेदरूपक ' अलंकार हुआ)

एत्य कुसुमाकरो मे संजीवयिता गिरं चिरं-
मग्नाम् ॥ इति चिंतयतो हृदये पिकस्य सम-
धायि शौभिकेन शरः ॥ ११४ ॥

वसंत के आने से मैं (अपनी) पुनरुज्जीवित की गई (मनोहर) वाणी में (फिर) चिरकाल पर्य्यंत मग्नहो

---

१ यह ' द्रुतविलंबित छंद है ।

जाऊंगी इस प्रकार विचार करनेवाली कोकिल के हृदय में व्याधने शर मारा (मनमोदक धरेही रहे, उलटा प्राण गया यह भाव है)

निर्गुणःशोभते नैव विपुलाडंबरोऽपि ना। आ-
पातरम्यपुष्पश्रीशोभिता शाल्मलिर्यथा ॥ ११९ ॥

भूमि पै (पतन होने पर्यंत रमणीय सुगंधहीन पुष्पोंसे शोभित शाल्मली वृक्ष के सदृश विपुल आडंबर (बनावट) करने से भी मनुष्य शोभा को नहीं प्राप्त होते (मनुष्य का परम भूषण तो गुण है यदि वही नहीं तो वस्त्रालंकारोंसे कितनी शोभा हो सकैगी इसमें ' पूर्णोपमा ' अलंकार है)

पंकैर्विनासरोभातिसदः खलजनैर्विना। कटु-
वर्णैर्विना काव्यं मनसं विषयैर्विना ॥ ११६ ॥

पंक (कीच) के विना सरोवर की, दुर्जनोंके विना सभा की, कठोर वर्णो के विना काव्य की और विषय वासना के विना मन की शोभा होती है (इसमें ' दीपक ' और ' विनोक्ति ' अलंकार का संकर है। ' शोभा ' शब्द का अर्थ कई स्थानों में विना उसके प्रयोग कियेही भासित होनें से ' दीपक ' और सर्व उदाहरणों में कुछ न्यूनता होनें की अवश्यकता प्रकट करने से ' विनोक्ति ' अलंकार हुआ)

---

१ शाल्मली (सेमर) उस वृक्षका नाम है जिसमें रेशमके समान एक प्रकारकी रुई निकलती है।

तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि ।
मार्मिकः को मरंदानामंतरेण मधुव्रतम् ॥ ११७ ॥

संसार में काव्य के दुर्बोध भावों को विरलेही जानते हैं मधुप के बिना मकरंद के मर्मको कौन जान सकता है ? अर्थात् कविताके गूढ तत्त्वोंका ज्ञान पंडितोंहीं को होता है (इसमें मधुपके दृष्टांतसे अर्थको दृढ किया इससे ' अर्थांतर-न्यास ' अलंकार हुआ)

सरजस्कांपांडुवर्णां कंटकप्रकरान्विताम् ॥ केत
कीं सेवसे हंतकथं रोलंब निस्त्रप ॥ ११८ ॥

हे निर्लज्ज मधुकर ! रजः कणको धारण करनेवाली, पांडुवर्ण, कंटक समूह युक्त केतकी, हाय तू कैसे सेवा करता है ? यह श्लोक अर्थ सूचक है; पक्षांतर में ' सरजस्कां ' से रजस्वला ! ' पांडुवर्णां से पीतवर्णा और ' कंटकप्रकारन्वि-ताम् ' से रोमांचवती स्त्री समुझना चाहिए (अप्रस्तुत भ्रमर वृत्तांत वर्णनसे रजस्वला रमणी का संग करनेवाले कामी पुरुषका वृत्त प्रतीत होता है)

यथा तानं विना रागो यथा मानं विना नृपः ॥
यथा दानं विना हस्तीतथा ज्ञानं विना यतिः ११९॥

जैसे तान के विना राग, मान [आदर] के विना नृप और मदोदकके विना हस्ती (शोभा नहीं पाता) वैसेही ज्ञान के विना यती [संन्यासी] सुशोभित नहीं होता (इसमें 'विनोक्ति' और 'उपमा' अलंकारकी संसृष्टि है)

संतः स्वतः प्रकाशंते गुणा न परतो नृणाम् ॥ आमोदो नहि कस्तूर्याः शपथेन विभाव्यते ॥१२०॥

मनुष्योंके सद्गुण स्वयं ही प्रकाश होते हैं, नकि दूसरों (के प्रकाश करने) से ! कस्तूरी की सुगंध शपथ (पूर्वक कहने) से नहीं जानी जाती अर्थात् जहां कस्तूरी होती है वहां उसकी परिमल आपही आप प्रकट होती है (मनुष्यों के उत्तम गुणों का वर्णन करके कस्तूरी के दृष्टांतसे अर्थ को दृढ किया इससे 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार हुआ)

अपि बत गुरु गर्व्वं मास्म कस्तूरि यासीरखिलपरिमलानां मौलिना सौरभेण ॥ गिरिगहनगुहायां लीनमत्यंतदीनं स्वजनकममुनैव प्राणहीनं करोषि ॥ १२१ ॥

हे कस्तूरिके ! अखिल परिमलोंमें श्रेष्ठ होनेसे तू (अपने मनमें) इतना गर्व न कर; हाय ! (क्या तू नहीं जानती) कि इसी सौरभ से तू, पर्वत की अंधेरी गुहा में लीन हुए अत्यंत दीन अपने (उत्पन्न करनेवाले) पिता (मृग) का प्राण हरण करती है (अप्रस्तुत कस्तूरिका वृत्तांत वर्णन करके संपत्ति की निंदा की है. यह तो प्रसिद्ध ही है कि लक्ष्मी जिसके पास होती है उसके प्राण, चोर इत्यादिकों से हरेजाने का सदा भय रहता है। संपत्तिमान पुरुष का भी वृत्तांत इससे प्रतीत होता है; क्योंकि जिस धनका वे गर्व करते हैं वही उनके प्राण लेने का कारण होता है; इससे

श्रीमंत होकर दर्प न करना चाहिए यह सूचित किया। कस्तूरीके गुणों में दोषारोपण करने से 'लेश' अलंकार हुआ)

दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति ॥ भूतेषु किंच करुणां बहुलीकरोति संगः सतां किमु न मंगलमातनोति॥१२२॥

सत्संग कौन कौन मंगल नहीं करता कुमति को दूर करता है, अंतःकरणको विमल करता है, जन्मांतरों के पापों को घटाता है, (और) प्राणियों में दया को बढाता है। (मंगल करना और अमंगल हरना यह सत्पुरुषों का स्वभावही है इससे 'स्वभावोक्ति' अलंकार हुआ)

अनवरतपरोपकारव्यग्रीभवदलमलचेतसां महताम् ॥ आपातकाटवानि स्फुरंति वचनानि भेषजानीव १२३

विमल अंतःकरणवाले (और) परोपकार (करने की चिन्ता) में निरंतर व्यग्र रहनेवाले सत्पुरुषोंके वचन औषधके समान आदिमें कटु होते हैं जैसे भेषज खानेके अनंतर गुण जान पड़ता है उसी प्रकार सुजनोंके कटु शब्द आगे महामंगलकारी होते हैं यह भाव. इस आर्यामें 'पूर्णोपमा' अलंकार है। 'पूर्णोपमा' में उपमान, उपमेय, वाचक और धर्म चारों स्पष्ट रीतिसे दृश्य होते हैं.

व्यागुंजन्मधुकरपुंजमंजुगीतान्याकर्ण्य श्रुतिमदजाड्यातिरेकात् ॥ आभूमीतलनतकंधराणि मन्येऽरण्येऽस्मिन्नवनिरुहां कुटुंबकानि ॥ १२४ ॥

१ 'प्रहर्षिणी' छंद है।

मेरी जान मधुकरोंके झुण्डके गुंजाररूपी मंजुल गीत सुन गानमें मनके लीन होजानेसे इस वनके विवश वृक्ष समूहोंके कंधे [शाखें] पृथ्वी तक झुक आई हैं अर्थात् उनकी डालियाँ भूमिपर पै लग गई हैं (पत्र फल अथवा पुष्पके भारसे नम्र होने वाले वृक्षोंके उपर उत्प्रेक्षा की है—जहां कुछ तर्क किया जाता है वहां 'उत्प्रेक्षालंकार' होता है—यहां वृक्षोंके झुकनेका हेतु भ्रमरोंके गानका सुनना कहा इससे 'हेतूत्प्रेक्षा' अलंकार हुआ)

मृतस्य लिप्सा कृपणस्य दित्सा विमार्ग-
गायाश्च रुचिः स्वकांते॥ सर्पस्य शांतिः कुटिलस्य
मैत्री विधातृसृष्टौ न हि दृष्टपूर्वा ॥ १२५ ॥

मृतकका पुनरपि जीवन, कृपणका दातृत्व, व्यभिचारिणी स्त्रीकी निज पतिमें प्रीति, सर्पकी शांति और कुटिल मनुष्योंकी मित्रता ब्रह्मदेवकी सृष्टिमें कभी नहीं गई अर्थात् इन सब बातोंका होना असंभव है (यह भी अर्थ इसमें भासित होता है कि कुटिलोंकी मित्रता संपादन करना कैसे संभव नहीं जैसे मृत मनुष्यका पुनरुज्जीवन कृपणका दान इत्यादि । अनेक पदोंका निर्वाह एक क्रियासे करनेसे इस श्लोकमें 'दीपक' अलंकार हुआ)

उत्तमानामपि स्त्रीणां विश्वासो नैव विद्यते ॥
राजप्रियाः कैरविण्यो रमंते मधुपैः सहः ॥ १२६ ॥

---

१ 'उपेन्द्रवज्रा' छंद है ।

उत्तम स्त्रियोंकाभी विश्वास न करना चाहिए; (देखिए) चन्द्रमाकी परमप्रिय कुमोदिनी [चन्द्रविकाशिनी कमिलिनी] भ्रमरोंके साथ विहार कती हैं ! (स्त्रियोंमें विश्वास न करनेके अर्थको कुमोदिनीके उदाहरणसे समर्थन किया इससे 'काव्य-लिंग, अलंकार हुआ)

अयाचितः सुखं दत्ते याचितश्च न यच्छति ॥ सर्व्व-
स्वं चापि हरते विधिरुच्छूंखलो नृणाम् ॥ १२७ ॥

मनुष्योंकी स्वतंत्र (अर्थात् जो चित्तमें आवै वही करनेवाली) भाग्य, जिन्हें न चाहिए उन्हें सुख देती है. जिन्हें चाहिए उन्हें नहीं देती (और मनमें आनेसे जिसका चाहती उसका) सर्वस्व तक हरण करती है। (तात्पर्य यह कि 'विधिगति अति बलवान')

दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डांशुग-
ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमंडलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरण-
म् ॥ वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावली-
ताण्डवभ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो को नाक्षि-
तीशः स्मरेत् ॥ १२८ ॥

(हे राजन् !) भुजद्वयसे चक्राकार कियेगए शोभायमान धन्वासे (निकले हुए) तीव्र बाणों (के प्रहार) से परम पराक्रमी शत्रुमंडल के विध्वंस करनेवाले आपको, समरभूमि

---

१ विधि' शब्दसे ब्रह्माका भी अर्थ होता है।

में अवलोकन कर, कौन भूपाल (ऐसा है जो), घोर शब्द करनेवाले गांडीव नामक धनुषसे छूटे हुए शर समूहों की ज्वालाके नृत्यसे नष्ट होनेवाले खाण्डव वनमें रुष्ट पांडव (अर्जुन) का स्मरण न करे ? (युद्धविद्या प्रवीण राजाका स्तवन है । इसमें ' स्मृति ' अर्थात् 'स्मरण' अलंकार है)

खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपंडिताः ॥ मण्डिताखिलदिक्प्रांताश्चण्डांशोः पान्तुभानवः ॥ १२९ ॥
इति श्रीमत्पण्डितराजजगन्नाथकविविरचितेभामिनीविलासेप्रास्ताविको नाम प्रथमो विलासः ॥ १ ॥

खंडिता नायिका की नेत्ररूपी कमल पंक्तियों को सुख देनेमें कुशल (और) सर्व दिग्भागों को शोभायमान करनेवाली सूर्यकी किरणों (आपकी) रक्षा करें ? (यह श्लोक आशीर्वादात्मक है । प्रातःकालपर्यंत निद्रित किसी राजा अथवा अपर किसी सत्पुरुषको कवि इस श्लोकसे आशीर्वाक्य कहते हुए निद्रा त्याग करना सूचित करता है)

भामिनीविलास के प्रास्ताविक नामक प्रथम विलास क प्राकृत भाषानुवाद समाप्त हुआ ॥

---

१ खंडिता उस नायिकाको कहते हैं जिसका पति सर्व रात्र दूसरी स्त्रीके साथ व्यतीत कर प्रातःकाल अपने गृह आता है

अथ भामिनीविलासे ।

द्वितीयः शृंगारविलासः ।

न मनागपि राहुरोधशंका न कलंकानुगमो न पांडुभावः । उपचीयत एव कापि शोभा परितो भामिनि ते मुखस्य नित्यम् ॥ १ ॥

हे भामिनि ! तेरे मुख (चंद्र) के आस पास अवर्णनीय शोभा नित्य ही रहती है, न तो उसे राहुसे तनिक भी आच्छादित होने की शंका, में कलंकका अनुगम और न पांडु वर्ण (होने का भय) अर्थात्—चंद्रमा में ये तीन दोष हैं परंतु तुझमें इनमेंसे एक भी नहीं, इससे तेरे निष्कलंक मुखका परम शोभायमान होना उचित ही है । (चंद्रमा उपमान और भामिनी मुख उपमेय है, उपमानसे उपमेय में विशेषता वर्णन की इससे ' व्यतिरेक ' अलंकार हुआ)

नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि ॥ यदि कोमलता तवांगकानामथ का नाम कथापि पल्लवानाम् ॥ २ ॥

(अब जगन्नाथ रायजी अंगकी कोमलताका वर्णन करते हैं और कहते हैं, हे भामिनि !) यदि तेरे अंग की कोमलता (की अपर पदार्थ से साम्यता करना चाहें तो असंभव) है; सरोजमाल (तेरी कोमलता सन्मुख) अत्यंत कठोर

---

१ यह ' माल्यभारा छंद है । २ ' माल्यभारा ' छंद ।

(लगते हैं,) कमलनाल की कोमलता विचारणीय ही नहीं (जब इनके सदृश कोमल वस्तुओं की यह दशा है) तो फिर पल्लवों की कथा का क्या नाम लेना, अर्थात् वे बिचारे क्या साम्यता करेंगे तात्पर्य यह कि तेरी अनुपम कोमलता की उपमा मिलना परम दुस्तर है

स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपाली दोलायितश्र-
वणकुंडलवंदनीया । आनंदमंकुरयति स्मरणेन
कापि रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥ ३ ॥

सुरा समान अरुण नेत्रवाली (भामिनी) की वह रम-णीय दशा, जिसमें प्रस्वेद जल के घने कणों से (कोमल) कपोल भाग शोभित हो रहा है और दोलायमान (हिलने वाले) श्रवण कुंडल से वंदनीय है जो, स्मरण होनेसे (मेरे हृदय में) आनंदांकुरका उद्भव करती है। (यह विपरीत रति वर्णन है)

कस्तूरिकातिलकमालि विधाय सायं स्मेरानना
सपदि शीलय सौधमौलिम् ॥ प्रौढिं भजंतु कुमुदा-
नि मुदामुदारामुल्लासयंतु परितो हरितो मुखानि॥४॥

हे आलि ! कस्तूरी तिलक धारण करके हास्यमुखी हो-त्साती संध्याकाल में तू गृहकी गची पै गमन कर (जिसमें) प्रमोदयुक्त कुमुदगण विकाश पावैं और दिशाओंके आसमं-ताद्भाग उल्लसित (भावार्थ—प्रकाशित) होवैं। (इस प्रकार का व्यापार होना संभव नहीं परन्तु यहाँ उसका संबंध वर्णन

किया इससे 'संबंधातिशयोक्ति' अलंकार हुआ. 'रूपक' अलंकार भी भासित होता है मुखको चंद्र मान कस्तूरी तिलकसे कलंकित किया और हास्यरूपी चंद्रिका को प्रकाशित कर चंद्रविकाशी कमलों को विकशित और दिशाओं को प्रकाशित करना दरशाया)

तन्मंजुमंदहसितं श्वसितानि तानि सा वै कलंक-
विधुरा मधुराननश्रीः ॥ अद्यापि मे हृदयमुन्म-
दयन्ति हंत सायंतनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ॥ २ ॥

संध्या समयमें (फूलने वाले चन्द्रविकाशी) कमल के समान नेत्रोंवाली (भामिनी) की वह मंजुल मंद हसनि, वे वचन और वह निष्कलंक मनोहर मुखकी छवि अभी तक मेरे मनको क्षोभित करती है हाय यह बडा दुःख है ! (यह विरही नायक की उक्ति है)

प्रातस्तरां प्रणमने विहिते गुरूणामाकर्ण्य वाच-
ममलां भव पुत्रिणीति ॥ नेदीयसि प्रियतमे पर-
मप्रमोदपूर्णादरं दयितया दधिरे दृगन्ताः ॥६॥

प्रातःकाल गुरुजनों को प्रणाम करनेमें 'पुत्रवती हो' इस प्रकार के सुंदर वचनों को सुन, परम प्रमुदित हो बडे आदर से समीपभागस्थित अपने पति की ओर स्त्री ने दृष्टि की। (इस श्लोक में यह भाव ध्वनित होता है कि उस नायिका का पति या तो मूर्ख है इससे विलासादिक सुखोंको जानता ही नहीं, अथवा जार है इस कारण स्वपत्नी से प्रीति नहीं

करता; अथवा बालक है इससे निज स्त्री को प्रसन्न करने में समर्थ नहीं। पुत्रिणी भव ' इस आशीर्वाक्यको श्रवणकर नायिकाने पति की ओर देखकर यह सूचित किया कि इन शब्दों की सार्थकता करो अथवा यदि वैसा करने को तुम समर्थ नहीं तो आज्ञाही दो कि मैं स्वयं उसका उपाय करूं। इस से यह भाव भी दर्शित होता है कि जो यह आशीर्वाद सत्य होगा तो मेरा पतिव्रत भंग समझना और जो पतिव्रत भंग न होगा तो गुरुजनों के वाक्य मृषा जानना)

गुरुजनभयमद्विलोकनान्तःसमुदयदाकुलभा-
वमुद्वहन्त्यः ॥ दरदलदरविन्दसुंदरे हा हरिणदृशो
नयने न विस्मरामि ॥ ७ ॥

गुरुजनों का भय है जिसमें ऐसे अवलोकनसे उत्पन्न हुए आकुल भावको प्राप्त होनेवाली मृगनयनी (भामिनी) के किंचित् विकशित कमलके समान सुंदर नयनोंका विस्मरण मुझे नहीं होता (अर्थात् मैं सदैव उनका स्मरण करता रहता हूं, कभी भूलता नहीं)

बदरामलकाम्रदाडिमानामपहृत्य श्रियमुन्नतौ
क्रमेण ॥ अधुना हरणे कुचौ यतेते दयिते ते
करिशावकुम्भलक्ष्म्योः ॥ ८ ॥

हे कांते ! क्रम क्रमसे ऊंचे उठनेवाले तेरे कुचद्वय, बेर

१ यह माल्यभारा ' छंद है।

(बदरीफल,) आमला (आमलकधात्रीफल,) आम्र, और दाडिम (अनार) की शोभा को हरण करके अब इस कालमें गजशावकके गंडस्थलकी शोभा हरनेका प्रयत्न करते हैं (मुग्धा नायिका की उस अवस्थाका वर्णन है जिसमें शरीर कांति दिन प्रति बढती जाती है । इस श्लोकमें कुचोंका उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन किया इससे 'सार' अलंकार हुआ)

जम्बीरश्रियमतिलंघ्यलीलयैव व्यानम्रीकृतकम-
नीयहेमकुंभौ ॥ नीलाम्भोरुहनयनेऽधुना कुचौ
ते स्पर्धेते किल कनकाचलेन सार्धम्[१] ॥ ९ ॥

हे नीलकमल लोचने ! जंबीर नीबूकी शोभा को उल्लंघन करके, निज लीला से सुन्दर हेमरूपी कुंभों (घटों) को नम्र करने (जीतने) वाले तेरे कुच अब इस समय में सुमेरु पर्वत के साथ स्पर्धा (ईर्षा) करते हैं (अर्थात् अत्यंत पीन और उन्नत स्थिति को प्राप्त हो रहे हैं—इसमें भी 'सार' अलंकार है)

कपोलपालीं तव तन्वि मन्ये लावण्यधन्ये दि-
शमुत्तराख्याम् ॥ आभाति यस्यां ललिताल-
कायां मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः[२] ॥ १० ॥

हे लावण्यधन्ये, तन्वि (कृशाङ्गि) ! मैं तेरी कपोलपाली को उत्तर दिशा मानता हूं (क्योंकि) उस ललित अल-

---

१ यह ' प्रहर्षिणी छंद है । २ यह उपजाति है ।

कोंवाली कपोलपाली में श्रवण (कुंडलों) की मनोहर श्री शोभायमान होती है और उत्तर दिशा स्थित अलकापुरी नाम नगरी में वैश्रवण (कुबेर) की मनोहर संपत्ति शोभा पाती है ('ललितालकायां' और 'वैश्रवणस्य' के दो दो अर्थ होनेसे 'श्लेष' अलंकार हुआ। कपोलपाली को उत्तर दिशि मानने से 'उत्प्रेक्षा' अलंकारकी भी संसृष्टि हुई)

नीवीं नियम्य शिथिलामुषसि प्रकाशमालोक्य वारिजदृशः शयनं जिहासोः ॥ नैवावरोहति कदापि च मानसान्मे नाभेः प्रभा सरसिजोदरसोदरायाः ॥ ११ ॥

प्रातःकाल में प्रकाश अवलोकन कर शिथिल (ढीली) नीवी (दुकूल ग्रंथि) को नियमित करके शय्या को छोडनेवाली (भामिनी) की, कमलके उदरके समान नाभि की सौंदर्यता मेरे मनसे कदापि नहीं उतरती ॥

आलीषु केलीरभसेन बाला मुहुर्ममालापमुपालपंती ॥ आरादुपाकर्ण्य गिरं मदीयां सौदामिनीयां सुषमामयासीत् ॥ १२ ॥

सखियों के साथ खेलमें निमग्न होने से धीरे धीरे मेरे वचनों को कंहनेवाली बाला (नवला स्त्री) दूर से मेरी वाणी को श्रवण करके सौदामिनी (विद्युलता) की शोभा को

---

१ मेरे वचनोंका अनुकरण करनेवाली अर्थात् जैसे मैं भाषण करता था वैसे ही बोलनेवाली।

प्राप्त हुई (जैसे दामिनी चमक के तत्काल लोप हो जाती है वैसेही वह कामिनी भी दृष्टिगोचर होते ही कहीं की कहीं चली गई अर्थात् लज्जावश उस स्थानको तुरंत त्याग स्थानांतर में प्रवेश करती भई)

मुधैव नक्तं परिकल्प्य गन्तुं मृषैव रोषादुपज-
ल्पतो मे। उदश्रुचंचन्नयना नतांगी गिरं न कां
कामुरीचकार ॥ १३ ॥

रात्रि में जाने की वृथा कल्पना करके, मुझ मृषा (झूठ) रोष के प्रकट करनेवाले की, अश्रुओंसे चंचल नयनोंवाली नतांगी (भामिनी) ने कौन कौन बात अंगीकार नहीं की अर्थात् जो कुछ कहा गया सभी किया। (तात्पर्य—वियोगके दुःखको परम असह्य मान अश्रुपात करती हुई कामिनी ने उन बातों का भी करना स्वीकार किया जिन्हें वह पहिले करने को सकुचती थी)

तदवधि कुशली पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुवि-
चारजो विवेकः ॥ यदवधि न पदं दधाति चित्ते
हरिणकिशोरदृशो दृशोर्विलासैः ॥ १४ ॥

कुशलता और पुराण, शास्त्र तथा स्मृतिके अनेक सुन्दर विचारोंसे उत्पन्न हुआ विवेक तभी तक है जब मृगशावक-नयनी (भामिनी) के नेत्र विलास मनमें स्थान (प्रवेश) नहीं करते। (अर्थात् कामिनीके नयन वाण लगनेसे

१ 'उपेन्द्रवज्रा'। २ यह पुष्पिताग्रा' छन्द है।

शास्त्र कहींके कहीं पडे रहते हैं; उनमें कही गई मर्यादाका कोई भी पालन नहीं करता)

आगतः पतिरितीरितं जनैःशृण्वती चकितमेत्य देहलीम् । कौमुदीव शिशरीकरिष्यते लोचने मम कदा मृगेक्षणा ॥ १५ ॥

" (तेरा) पति आगया" इस प्रकार सहेलियोंसे कहेगए वचनोंको श्रवण करके सविस्मय देहली पै चंद्रिकाके समान आई हुई मृगनयनी (भामिनी कब मेरे नेत्रोंको शीतल करेगी)

अवधौ दिवसावसानकाले भवनद्वारि विलोचने दधाना ॥ अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव ॥ १६ ॥

संध्याकाल अवधि की वेर गृह की द्वारी (खिडकी) में नयनोंको स्थापन करनेवाली रामा (भामिनी स्त्री) उस समय मुझे आता देख हास्य मुखी हुई ।

वक्षोजाग्रं पाणिनामृष्य दूरं यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य ॥ शोणाग्राभ्यां भामिनीलोचनाभ्यां जोषं जोषं जोषमेवावतस्थे ॥ १७ ॥

कुचाग्रभागको हस्तसे मर्दन करके तुरंत दूर चले गए प्रियतमके मुख कमलका, (अपने अरुण नेत्रोंसे सेवन करती

१ यह रथोद्धता, छंद । २ माल्य भारा' छन्द । ३ खिडकीसे झांकने वाली । ४ यह 'शालिनी' छन्द है ।

हुई) रोषपूरित (भामिनी चुपचाप स्थितरही अर्थात् नेत्र लाल करके उसके मुखकी ओर देखती रह गई कुछ कर न सकी)

गुरुभिः परिवेष्टितापि गंडस्थलकंडूयनचारुकैतवेन । दरदर्शितहेमबाहुनाला मयि बाला नयनांचलं चकार ॥ १८ ॥

गुरुजनोंके बीचमें बैठी हुई बाला (भामिनी) ने गंडस्थल (कपोल भाग) खुजलानेके मिससे हेम सदृश भुजारूपी नालका किंचित् दर्शन देकर मुझे अवलोकन किया (अधिक स्नेहके कारण गुरुजनोंके मध्यसे भी किसी मिस से प्रियतम को देखा यह भाव है)

गुरुमध्यमगता मया नतांगी निहता नीरजकोरकेण मंदम् ॥ दरकुंडलतांडवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णितासीत् ॥ १९ ॥

गुरुजनों के बीचमें बैठी हुई और कमलकली से धीरे मेरी मारी हुई नतांगी (नत हैं अंग जिसके ऐसी) मुझे देख कर्ण कुंडलों को किंचित् नचाती और भृकुटि लता को नत (तात्पर्य–टेढी, बंक) करती हुई घूरने लगी।

विनये नयनारुणप्रसाराः प्रणतौ हंत निरन्तराश्रुधाराः॥ अपि जीवितसंशयः प्रयाणे न हि जाने हरिणाक्षि केन तुष्येः ॥ २० ॥

---

१ 'माल्यमारा' २ 'माल्याभरा' ३ 'माल्यभारा'

विनय करने से लोचन लाल हो जाते हैं, प्रणत किया (पैर पडने अथवा हाथ जोडने) में निरंतर अश्रुधारा चलती है; (विदेश) गमन (की बात चलाने) में प्राण (रखने) की भी शंका होती है; (अतएव मैं) नहीं जानता कि(यह) मृगनयनी किस बातसे संतुष्ट होगी ? (हाय! यह बडा खेद है)

अकरुण मृषाभाषासिंधो विमुंच ममांचलं तव
परिचितः स्नेहः सम्यङ्मयेत्यभिधायिनीम् ॥
अविरलगलद्बाष्पां तन्वीं निरस्तविभूषणां क
इह भवतीं भद्रे निद्रे विना विनिवेदयेत् ॥२१॥

हे निर्दय ! असत्यभाषण समुद्र ! मेरा अंचल छोड, मैंने तेरा स्नेह भलीभांति जान लिया ऐसा बोलने वाली (और) संतत अश्रुधारा बरसानेवाली वस्त्रविहीना कृशांगी (भामिनी) को इस देश अथवा इस स्थलमें, हे कल्याणकारिणी निद्रे ! तेरे विना और कौन मेरे स्वाधीन करेगा ? (प्रवासी विरही नायक की उक्ति है; रात्रि समय स्वप्नमें निज प्रिया को देख निद्राकी प्रशंसा करता है और अपने ऊपर उसके महान उपकार मानता है ! सत्य है वियोगियों को ऐसी दशा परम सुखकारिणी होती है)

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मि-
लद्विकाशम् ॥ आलोक्य धावत्युभयत्रमुग्धा म-
रंदलुब्धालिकिशोरमाला ॥ २२ ॥

---

१ 'हरिणी' छन्द है । २ 'उपजाति' छन्द ।

(सरोवर के) तीर में तरुणी (भामिनी) के सहास्य मुख और जल में विकशित कमल को अवलोकन कर मूर्ख मकरंदलोभी मधुपकिशोरपंक्ति दोनों ओर धावन करती हैं (भ्रमर की प्रीत कमल से है परन्तु स्त्री मुख को देख उन्हें कमलहीका संदेह हुआ इस से इस श्लोक में 'संदेह' अलंकार जानना)

वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी हारलक्ष्म दयित-
स्य भामिनी । अंसदेशविनिवेशितां क्षणादाच-
कर्ष निजबाहुवल्लरीम् ॥ २३ ॥

प्रीतमके हृदयस्थल पै सपत्नी के हारका चिह्न देख कंठ-देशमें स्थापन की गई निज बाहुरूपीवल्लरी भामिनीने तत्काल खींचली (अपना पति अन्य स्त्रीसे स्नेह रखता है यह जान रोष प्रकट किया । इसमें 'खंडिता' नायिका है)

दरानमत्कंधरबंधमीषन्निमीलितास्निग्धविलोचना-
ब्जम् ॥ अनल्पनिश्वासभरालसांगं स्मरामि सं-
गं चिरमंगनायाः ॥ २४ ॥

किंचित् नम्र कंधर बन्धवाला, कुछ मुँदेहुए सुन्दर लोचन-रूपी कमलवाला; अधिकश्वासभर से सालस अंगवाला, अंगना [भामिनी] का संग (संयोग) मैं सदैव स्मरण करता हूं (रतिप्रसंग वर्णन है)

रोषावेशान्निर्गतं यामयुग्मादेत्य द्वारं कांचिदा-

---

१ कंधदेश । २ 'रथोद्धता' छन्द है । ३ 'उपेन्द्रवज्रा' ४ कंधा ।

ख्यां गृणन्तम् ॥ मामाज्ञायैवाययौ कातराक्षी मंदं मंदं मंदिरादिंदिरेव ॥ २५ ॥

रोषावेशके कारण (गृह) से निकल जानेवाले (और) अर्धरात्रि में द्वार पै आय (अपने आपही से) कुछ वार्तालाप करनेवाले मुझको जान. मंदिर (घर) से मंद मंद इंदिरा (लक्ष्मी) के समान भयभीत लोचना (भामिनी) आई (इसमें 'कलहांतरिता नायिका है)

हृदये कृतशैवलानुषंगा मुहुरंगानि यतस्ततः क्षिपंती । प्रियनामपरे मुखे सखीनामतिदीनामियमादधाति दृष्टिम् ॥ २६ ॥

हृदय में शैवल (सिवार) का अनुषंग (संपर्क) करनेवाली (अर्थात् कलुषित हृदयवाली) और अंगों को बार बार कभी इधर कभी उधर डालनेवाली यह अति दीना (नायिका), निज प्रियतम के नाम को उच्चारण करनेवाली सखियों के मुखको अवलोकन करती है ।

इत एव निजालयं गताया वनिताया गुरुभिः समावृतायाः ॥ परिवर्त्तितकन्धरं नतभ्रु स्मयमानं वदनांबुजं स्मरामि ॥ २७ ॥

यहां से निज गेह को गमन करनेवाली, गुरुजनोंके मध्य स्थित भामिनी का; फिरी हुई ग्रीवा और नम्र नम्र भ्रुकुटी वाला हास्ययुक्त मुखकमल, मैं स्मरण करता हूं ।

---

१ यह 'शालिनी' छन्द है। २ 'माल्यभारा' । ३ माल्यभारा ।

कथय कथमिवाशा जायतां जीविते मे मलय-
भुजगवान्ता वांति वाताः कृतान्ताः ॥ अयमपि
खलु गुंजन्मंजु माकंदमौलौ चुलुकयति मदीयां
चेतनां चंचरीकः ॥ २८ ॥

कहिये जीवनकी क्या आशा है ? (उधर) मलयाचल से सर्पों की उगलीहुई कालके समान वायु बहती है (उधर) आम्र पै मंजु गुंजार करने वाले मधुकर मेरे चित्तको हरण करते हैं ।

निरुध्य यान्तीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य
पुरो दधाने । मयि स्मितार्द्रं वदनारविंदं सा
मदमदं नमयां बभूव ॥ २९ ॥

हठसे [अथवा वेगसे] जानेवाली (अर्थात् प्रसंग की इच्छा न रखने वाली) कपोतीको रोक कर शब्द करनेवाले (रत्युत्सुक) कपोतके सन्मुख लानेवाले मुझे देख प्रियतमाने मुसुकुराते हुए वदनकमलको लज्जासे धीरेधीरे नीचा किया ।

तिमिरं हरंति हरितः पुरः स्थिता तिरयंति ताप-
मथ तापशालिनाम् ॥ वदनत्विषस्तवचकोर-
लोचने परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः ॥ ३० ॥

हे चकोरके समान नयनोंवाली (भामिनी) ! तेरी वदनकांति, दिशाओंमें व्याप्त हुए अंधकारको नाश करती है,

१ मालिनी । २ विरही की उक्ति है । ३ 'उपजाति' । ४ यह 'मंजुभासिणी छंद ।

संतत मनुष्योंकी शोभाको आच्छदित करती है (तेरा मुख) चंद्रमाही है यह भाव है)

कुचकलशयुगांतर्मामकीनं नखांकं सपुलकत-
नु मंदं मंदमालोकमाना। विनिहितवदनं मां
वीक्ष्य बाला गवाक्षे चकिततनु नतांगी सद्म
सद्यो विवेश ॥ ३१ ॥

(सुवर्ण) कलश (घट) के समान दोनों कुचोंके मध्यमें मेरे किये हुए नखोंको पुलकित होती धीरे धीरे अलोकन करने-वाली चकितगात्री नतांगी (नम्र है अंग जिसका ऐसी) बालाने खिडकीमें मुख रखेहुए मुझे देख शीघ्रतासे घरमें प्रवेश किया।

विधाय सा मद्वदनानुकूलं कपोलमूलं हृदये श-
याना॥ तन्वी तदानीमतुलां बलारेः साम्राज्य-
लक्ष्मीमधरीचकार ॥ ३२ ॥

हृदयमें शयन करनेवाली कृषांगी (भामिनी) ने मेरे मुखके अनुकूल (अर्थात् जैसा चाहिये वैसा) मुखके ऊपर कपोलमूल (चिबूक) को स्थापन कर उस समयमें देवेन्द्रकी अतुल राज्य संपत्तिके सुखको (भी) तिरस्कार किया (सुरेशवैभवसंजात सुखसे इस सुखको अधिक माना यह भाव)

मुहुरर्थितयाद्य निद्रया मे बत यामे चरमे निवे-
दितायाः॥ चिबुकं सुदृशः स्पृशामि यावन्
मयि तावन्मिहिरोऽपि निर्दयोऽभूत् ॥ ३३ ॥

१ उपजाति' २ 'माल्यभारा' छन्द है।

वारंवार प्रार्थना की गई निद्रासे आज चतुर्थ प्रहरमें सनिवेदन लाईगई सुलोचना भामिनी) की चिबुकको जब तक मैं स्पर्श करूं तब तक (दैव तो हई है पै) सूर्य भी मेरे हेत निरदई हुआ (विरही नायक की उक्ति है; तीन प्रहर वियोगव्यथामें बिताय चतुर्थ प्रहरमें निज प्रियतमाको स्वप्नमें देख ज्योंही चिबुक पै हाथ लेगया त्योंही सूर्योदय हुआ अतएव अग्रिमकार्य असमाप्तही रहा)

श्रुतिशतमपि भूयः शीलितं भारतं वाविरच-
यति तथा नो हंत संतापशांतिम् । अपिसपदि
यथायं केलिविश्रांतकांता वदनकमलवल्गत्
कांतिसान्द्रोनकारः ॥ ३४ ॥

केलि से श्रमित कांता के वदनकमल से निकला हुआ यह रसमय ' नकार ' (न, न, कहना) शीघ्रही संताप को जैसा शांत करता है वैसा अनेक बार सैकडों श्रुतियों तथा भारत (इत्यादि) पुराणों का परिशीलन नहीं । ' न , न ' कहना तो इतना सुखकर है यदि वह ' हूँ ' कहै तो नजानैं कितना सुख होगा ? मूल में ' अपि ' शब्द के प्रयोग से यह भाव ध्वनित होता है)

लवली तव लीलयाकपोले कवलीकुर्वंति को-
मलत्विषा । परिपांडुरपुंडरीकखंडे परिपेतुः
परितो मद्वाधयः ॥ ३५ ॥

---

१ इसे एक प्रकारकी ' उपजाति छंद कहना चाहिये इसमें ' वैतालीय ' और ' औपच्छन्दसिक ' का संकर है ।

(हे भामिनी !) तेरे कपोलकी लीलायुक्त कोमलकांतिने लवली[1] नामक लता की शोभा को हरण कर अत्यंत शुभ्र कमलसमूहको सर्व ओरसे महान् भय उत्पन्न किया है (लवलीकी शोभा को ग्रास करके अब हमारी भी वही दशा करैगी इससे कमल भयभीत हुए यह भाव है)

यौवनोद्गमनितांतशंकिताः शीलशौर्यबलकां-
तिलोभिताः संकुचंति विकसंति राघवे जा-
नकीनयननीरजश्रियः[2] ॥ ३६ ॥

युवावस्था के उपगम से अत्यंत सशंक, शील पराक्रम, (बाहु) बल और (शरीर) कांतिकी लोभी, जानकी के कमलनयनों की शोभा, राघव के विषय में सकुची और आनंदित भी हुई (तरुण होनेसे लज्जित हुई परंतु रामचन्द्रके बल शील, सुंदरता इत्यादिक के कारण प्रसन्न हुई यह भाव है)

अधिरोप्य हरस्य हंत चापं परितापं प्रशमय्य
बांधवानाम् ॥ परिणेष्यति वा न वा युवायं निर-
पायं मिथिलाधिनाथपुत्रीम् ॥ ३७ ॥

यह युवा (रामचंद्र,) शंकर के चाप को चढाय बंधुजनों के परिताप को शमन कर, मिथिलापतिपुत्री (जानकी) का निर्विघ्न पाणिग्रहण करैगा अथवा नहीं ! (यह जनकपुरवासियों की उक्ति है)

---

१ लवली एक प्रकारकी लता है; इसके और कपोलके रंगकी समता दी जाती है। २ रथोद्धता छंद ’

भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण रहसि वधूः ॥ तत्कालजालपतिता बालकुरंगीव वेपते नितरांम् ॥ ३८ ॥

एकांतस्थल में पति से आलिंगन कीगई नवविवाहिता (नवोढा) नायिका, तत्काल जाल में फंसीहुई बालमृगी के समान अत्यंत कंपित होती है ।

उपनिषदः परिपीता गीतापि च हंत मतिपथं नीता ॥ तदपि न हा विधुवदना मानससदना-द्बहिर्याति ॥ ३९ ॥

उपनिषदोंको पान (अर्थात् श्रवण) किया और भगवद्गीता को मति के मार्ग को पहुंचाया अर्थात् उसका भी भलीभाँति परिशीलन किया; परंतु हाय ! इतना करने पर भी यह चन्द्रवदनी (भामिनी) मेरे मन रूपी गेहसे बाहर नहीं जाती । (गीतादिक से मनुष्यको ज्ञान उत्पन्न होता है और विषय वासना छूट जाती है परन्तु मेरा अनुराग अधिकाधिक बढताही जाता है यह भाव है)

अकरुणहृदय प्रियतम मुंचामि त्वामितः परं नाहम् ॥ इत्यालपति कराम्बुजमादायाली जन-स्य विकला सा ॥ ४० ॥

"हे निर्दय प्रियतम ! अब आज से मैं तुम्हें न छोडूँगी (अर्थात् फिर विदेश न गमन करने दूंगी)" इस प्रकार वह

---

१ 'माल्यभारा'।

व्याकुलनायिका सखी के करकमल को पकड़कर कहती है (नायिका का संदेश लेकर विदेशवासी नायकके प्रति यह दूतीका वचन है बिरहसे नायिका को उन्माद उत्पन्न हुआ है इससे वह सखियों कोही पति समुझ इस प्रकारकी बातें कहती है यह भाव—नायिकाकी ऐसी दशा वर्णन करके शीघ्र ही उसे मिलिए यह सूचित किया)

लोभाद्वराटिकानां विक्रेतुं तक्रमविरतमटन्त्या। लब्धो गोपकिशोर्या मध्येरथ्यं महेन्द्रनीलमणिः ॥ ४१ ॥

कौड़ीके लोभसे मही(मट्ठा)बेंचनेके लिए निरंतर फिरने वाली गोपकिशोरीने मार्गमें परम श्रेष्ठ नीलमणि पाई ! (इसमें एक तो यह भाव निकलता है कि तक्र बेचनेवाली गोपसुता राधिका को श्रीकृष्ण अनायास मिले; दूसरा यह कि, अल्प धनके हेतु महान परिश्रम करनेसे अप्राप्य वस्तु भी प्राप्त होती है । थोडे पदार्थकी इच्छा करनेमें बहुत लाभ होना, 'प्रहर्षण' अलंकारका लक्षण है)

रूपारुचिं निरसितुं रसयन्त्या हरिमुखस्य लावण्यम् ॥ सुदृशः शिवशिव सकले जाता सकलेवरे जगत्यरुचिः ॥ ४२ ॥

(जैसा मेरा रूप रुचिर है वैसा और किसीका नहीं इस प्रकारके गर्वसे जगतमें मनुष्यजातिकी सौंदर्यतासे घृणा उत्पन्न हुई है जिसे उस), स्वरूप की अरुचिको दूर करनेके लिए

---

१ 'प्रोषितपतिका' नायिका ।

श्रीकृष्ण के मुख की लावण्य का स्वाद लेनेवाली सुलोचनी को शिव, शिव अपने शरीरके सहित संपूण जगत्में अरुचि उत्पन्न हुई अर्थात् कृष्ण मुझ से भी विशेष सुन्दर है यह जान वैराग्यका अंकुर जमा ।

प्राणापहरणेनासि तुल्यो हालाहलेन मे ॥ शशांक-
केन मुग्धेन सुधांशुरिति भाषितः ॥ ४३ ॥

हे चंद्रमा ! मेरे प्राण लेनेमें तू हलाहल [विष] के समान है; (भला फिर तुझे) सुधांशु [अमृत है किरणमें जिसके ऐसा] किस मूर्खने कहा अर्थात् नाम दिया (यह विरहीकी उक्ति है)

किं जल्पसि मुग्धतया हंत ममांगं सुवर्णवर्ण-
मिति ॥ तप्यति पतति हुताशे तदा हताशे
तुलां तवारोहेत् ॥ ४४ ॥

मेरे अंगका वर्ण सुवर्णके समान है इस प्रकार मूढ़तासे सहर्ष तू क्या कहती है ? हे हताशे[1] ! सुवर्ण जब अग्निमें (तपानेके हेतु) डाला जाता है तब तेरी तुलना [उपमा] को प्राप्त होता है । (तेरे अंगका रंग सुवर्ण से श्रेष्ठ है क्योंकि जबतक सुवर्ण अग्नि की कठोर आंचैं नहीं सहता तब तक तेरी समता को नहीं पाता यह भाव । (यहां सुवर्ण जो उपमान उसका नायिका का अंग जो उपमेय उससे अनादर होनेसे 'प्रतीप' अलंकार हुआ)

---

१ नाश हुई है आशा जिसकी ।

औत्सुक्यात्परिमिलतां त्रपया संकोचमंचतां च मुहुः ॥ नवसंगमयोर्यूनोर्नयनानामुत्सवो जयति ॥ ४५ ॥

उत्सुकता संयुक्त और वारंवार लज्जासे संकोच को प्राप्त, नूतन प्रसंग समयमें दंपतीके नेत्रोंका उत्सव जय पावै।

गरिमाणमर्पयित्वा लघिमानं कुचतटात्कुरंगदृशाम् ॥ स्वीकुर्वते नमस्ते यूनां धैर्याय निर्विवेकाय ॥ ४६ ॥

गुरुता को देकर मृगनयनी के कुचप्रांत से लघुत्वको स्वीकार करनेवाले तरुणपुरुषोंके अविवेकी धैर्य को नमस्कार है। (इसमें 'परिवृत्ति' अलंकार है, जहां बहुत देने से भी कम प्राप्ति है वहां यह अलंकार होता है)

न्यंचति वयसि प्रथमे समुदंचति तरुणिमनि तदा सुदृशः ॥ दधति स्म मधुरिमाणं वाचो गतयश्च विभ्रमाश्च भृशम् ॥ ४७ ॥

सुलोचनी (भामिनी) की बाल्यावस्था के गमन और तारुण्यता के आगमन समय में वाणी, गति और विलास परम माधुर्यता को प्राप्त होते हैं।

निस्सीमशोभासौभाग्यं नतांग्या नयनद्वयम् ॥ अन्योन्यालोकनानंदविरहादिव चंचलम् ॥ ४८ ॥

जिनकी शोभा के सौभाग्य की सीमा ही नहीं ऐसे, नवगात्री (नायिका) के युगलनयन, मानो एक दूसरे को न

देख सकने के कारण चंचल हो रहे हैं (नयनों के चंचल होने का कारण परस्परावलोकन का विरह कहा इससे 'उत्प्रेक्षा' अलंकार हुआ)

गुरुमध्ये हरिणाक्षी मार्तिकशकलैर्निहंतुकामं माम् ॥ रदयंत्रितरसनाग्रं तरलितनयनं निवारयांचक्रे ॥ ४९ ॥

मृत्तिका के ढेले से मारनेकी इच्छा करनेवाले मुझे; गुरुजनों के मध्य में मृगनयनीने जिह्वाग्र को दातोंसे दबाय और आंखों को तरलित करके, निवारण किया ।

नयनांचलावमर्शं या न कदाचित्पुरा सेहे ॥ आलिंगितापि जोषं तस्थौ सा गंतुकेन दयितेन॥५०॥

जिस नायिका ने पहिले नेत्रकटाक्ष को भी कभी न सहन किया वह विदेश जाने की इच्छा रखनेवाले प्रियतमसे आलिंगन कीगई भी संतुष्ट स्थित रही ('प्रवस्यत्पतिका' नायिका है)

मानपराग्वदनापि प्रिया शयानेव दयितकरकमले ॥ उद्वेल्लद्भुजमलसग्रीवाबंधं कपोलमाधत्ते ॥ ५१

मानसे पराङ्मुखहुई नायिका निद्राके मिषसे प्रियतम के करकमल में, हस्तको ऊंचा और ग्रीवाबंधको शिथिल करती हुई कपोलको स्थापन करती है ।

लोचनफुल्लांभोजद्वयलोभांदोलितैकमनाः शुभ्रे ॥ कस्तूरीतिलकमिषादयमलिकेऽलिस्तवोल्लसति ॥ ५२ ॥

हे शुभांगि ! लोचनरूपी प्रफुल्लित युगल अंभोज का लोभी चंचल चित्तवाला भ्रमर, कस्तूरीतिलक के मिषसे; तेरे ललाट में शोभायमान है (कस्तूरीतिलक के यथार्थ गुणको गोपन कर उसको भ्रमर मानने से 'अपह्नुति' अलंकार हुआ)

अधिरजनि प्रियसविधे कथमपि संवेशिता ब-
लाद्गुरुभिः ॥ किं भवितेति सशंकं पंकजनयना
परामृशति ॥ ५३ ॥

रात्रि समय बल से प्रियतम के समीप गुरुजनोंसे जैसे तैसे प्रवेश की गई कमलनयनी ' क्या होगा ' इस प्रकार सशंक होकर (मनमें) विचारती है ('नवोढा' नायिका है)

चिंतामीलितमानसो मनसिजः सख्यो विहीन-
प्रभाः प्राणेशः प्रणयाकुलः पुनरसावास्तां स-
मस्ता कथा ॥ एतत्त्वां विनिवेदयामि मम चेदु-
क्तिं हितां मन्यसे मुग्धे मा कुरु मानमाननमिदं
राकापतिर्जेष्यति ॥ ५४ ॥

हे मुग्धे ! (मान करने से) मनसिज म्लान हो जावेगा' सखियां तेजहीन होजावेंगी, और यह (तेरा) प्राणपति प्रेमाकुल हो जावैगा, (इस कारणसे) इन बातोंको रहने दे; तेरे प्रति निवेदन किए गए मेरे इस हितोपदेशको मान, मान न कर (क्योंकि ऐसी शिक्षा को न सुनने से तेरे) मुख-को चंद्रमा जीत लेवेगा । (नायकसे न मिलनेसे तुझे विरह वेदना सहनी पडेगी और उस समय में चंद्रमा तुझे दुःखदाई होगा अथवा तेरा आनन अभी निष्कलंक है परंतु उदासी-

नता के कारण कलंकित हो जावेगा और चंद्र की सादृश्य को प्राप्त होवेगा यह भाव है)

अलंकर्तुं कर्णौ भृशमनुभवंत्या नवरुजं ससी-
त्कारं तिर्यग्वलितवदनाया मृगदृशः ॥ कराब्ज-
व्यापारानतिसुकृतसारान् रसयतो जनुः सर्वं
श्लाघ्यं जयति ललितोत्तंस भवतः ॥ ५५ ॥

हे मनोहर कर्णकुंडल ! (तुझे) श्रवण में धारण करने के समय सीत्कार [सिसकना] करते हुए नूतनोत्पन्न व्याधि को भले प्रकार अनुभव, (तथा) मुखको तिर्यक्[1] करनेवाली सुलोचनी (नायिका) के महत्सुकृती करकमल के व्यापारों को तुझ स्वाद लेने वालेका जन्म प्रशंसनीय है । (कर्ण-छेदनमें नायिका जो जो व्यापार करती है सो सो ओष्ठ दंशन समय में भी करती है इससे प्रस्तुत कर्णकुंडल वृत्तांत अप्रस्तुत अधरखंड करनेवाले पुरुषके वृत्तांतमें मिलनेसे 'समासोक्ति' अलंकार हुआ)

आयातैव निशा निशापतिकरैः कीर्णं दिशा-
मंतरं भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरंगान्यलंकुर्व-
ते ॥ मुग्धे मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषे-
ण ते हा हा बालमृणालतोऽप्यतितरां तन्वी
तनुस्ताम्यति ॥ ५६ ॥

हे मुग्धे ! रात्रि आई. निशाकर की किरणें दिशाओं में फैल गईं, स्त्रियां (अपने अपने) घरोंमें आभूषणोंसे अंगोंको

---

१ वक्र-टेढा ।

अलंकृत करनेलगीं ! (ऐसे समय में जो) अब भी तू मान को कुछ कम न करैगी तो रोषसे हाय ! हाय ! यह तेरा बाल मृणालसे भी अतिशय कृश शरीर संतप्त हो जावेगा।

वाचो मांगलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं
जने केलीमंदिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्रा-
म्बुजा। निःश्वासग्लपिताधरं परिपतद्वाष्पा-
र्द्रवक्षोरुहा बाला लोलविलोचना शिव शिव
प्राणेशमालोकते ॥ ९७ ॥

(जिस समय) मनुष्य अनेक प्रकारके मंगलकारक शब्द उच्चारण कर रहे हैं उस (प्रियतम के विदेश) गमन करने की वेला, केलिमंदिर झरोखेमें कमलरूपी मुखको स्थापन करनेवाली, गिरते हुए अश्रुवोंसे भीगे हुए कुचोंवाली, चंचल नयनी बाला श्वासोच्छ्वास से होठोंको कंपित करती हुई शिव, शिव, प्राणपतिको अवलोकन करती है। (यह 'प्रव-स्यत्पतिका' नायिका है)

यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां सहचरि दैवव-
शेन दूरतोऽभूत् ॥ तदवधि शिथिलीकृतो मदी-
यैरथ करणैः प्रणयो निजक्रियासु ॥ ९८ ॥

हे सखी ! ज्योंही प्रियतम दैवयोगात् नयनों से दूर हुआ त्योंही प्रेमवशात् मेरी इंद्रियां अपनी अपनी क्रिया में शि-थिल अर्थात् जड हुई। नयनों ने देखना, श्रवणों ने सुनना,

---

१ 'पुष्पिताग्रा' छन्द।

हाथों ने स्पर्श करना त्यागा यह भाव। ('प्रवस्यत्पतिका' नायिका है)

निखिलां रजनीं प्रियेण दूरादुपयातेन विबोधिता कथाभिः ॥ अधिकं न हि पारयामि वक्तुं सखि मा जल्प तवायसी रसज्ञा ॥ ५९ ॥

दूर देश से आएहुए प्रियतम के सारी रात्रि वार्तालाप करने से मुझ जगीहुई को अब अधिक भाषण करने की शक्ति नहीं, इससे, हे सखि ! तू (वृथा) मत जल्पना करै, तेरी रसना [जिह्वा] तो लोहकी है ('आगतपतिका' नायिका है)

निपतद्बाष्पसंरोधमुक्तचांचल्यातरकम् ॥ कदा नयननीलाब्जमालोकेयं मृगीदृशः ॥ ६० ॥

गिरतेहुए अश्रुओं के रोध से चंचलताहीन तारोंवाले मृगनयनी के नयनरूपी नीलकमल मैं[2] कब अवलोकन करूंगा ॥

यदि लक्ष्मण सा मृगेक्षणा न मदीक्षासरणिं समेष्यति ॥ अमुना जडजीवितेन मे जगता वा विफलेन किं फलम्[3] ॥ ६१ ॥

हे लक्ष्मण ! यदि वह कुरंगनयनी (सीता) मेरे दृष्टिपथ को न प्राप्त होगी तो मेरे इस जडजीवन तथा निष्फल जगत् से क्या फल है ? (लक्ष्मणके प्रति यह रामचंद्रका वचन है)

भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभ-

---

१ 'माल्यभारा' छन्द। २ 'प्रोषित' नायक। ३ 'वैतालीय छन्द है।

लालसेषु ॥ तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ
बाला पथि पातयांबभूव ॥ ६२ ॥

गृह में प्रवेश करनेवाली करुणावती बाला ने मार्गमें, गम-नार्थ आज्ञारूपी लाभके लोभी युवा पुरुषोंके ऊपर नेत्ररूपी कमलमालाको डाला अर्थात् उनकी ओर अवलोकन किया (बाहर से घर आनेवाली नायिकाने अपने अनुगामी पुरुषों पै दया करके अवलोकन मात्रसे उन्हें लौटनेकी आज्ञा दी यह भाव—इसमें 'कुटला' नायिका है)

पापं हंत मया हतेन विहितं सीतापि यद्यापि-
ता सा मामिंदुमुखी विना बत वने किं जीवितं
धास्यति ॥ आलोकेय कथं मुखं सुकृतिनां
किं ते वदिष्यंति मां राज्यं यातु रसातलं पु-
नरिदं न प्राणितुं कामये ॥ ६३ ॥

मुझ हतभाग्य ने महत्पाप किया जो सीता को (वन में) भेजा; हाय! वह इन्दुमुखी विना मेरे काननमें किस प्रकार जीवन धारण करैगी ? मैं महाजनोंका मुख कैसे देखूंगा (और) वे मुझे क्या कहेंगे ? (अब इस समयमें)राज्य(चाहै) पातालको जाय (परंतु शरीरको) सप्राण रखना उचित नहीं ! (इसमें शोक, विशाद, शंका इत्यादिककी संसृष्टि से विशेष चमत्कार भासित होता है)

उषसि प्रतिपक्षकामिनीसदनादंतिकमंचति

---

१ 'माल्यभारा' ।

प्रिये ॥ सुदृशी नयनाब्जकोणयोरुदियाय त्वर-
याऽरुणद्युतिः ॥ ६४ ॥

प्रातःकाल सपत्नी के घर से आएहुए प्रियतम को स्वस्त्निध (देख) सुनैनी (भामिनी) के नयनरूपी कमलों के कोण शीघ्रही अरुणता को प्राप्त हुए (रोष से लाल नेत्र हुए यह भाव इसमें 'खंडिता' नायिका है)

क्षमापणैकपदयोः पदयोः पतति प्रिये ॥ शेमुः
सरोजनयनानयनारुणकांतयः ॥ ६५ ॥

क्षमापन के स्थान चरणों में प्रियतम के गिरने से कमल नयनी (नायिका) के नयनों की अरुणता शांत हुई (रोष गया यह भाव है)

निर्वासयंती धृतिमंगनानां शोभां हरेरेणदृशो
धयंत्याः ॥ चिरापराधस्मृतिमांसलोऽपि रोषः
क्षणप्राघुणिको बभूव ॥ ६६ ॥

स्त्रियों के धैर्य को दूर करनेवाली जो सिंह की शोभा उसको धारण करनेवाली कुरंगनयनी (नायिका)का,चिरकाल अपराध के स्मरण होनेसे (उत्पन्न हुआ)महान रोष, शीघ्रही नष्ट हुआ (नायक के विनीत वचनों को सुन और उसे निज चरण पलोटते देख नायिका का मान शांत हुआ यह भाव है)

---

१ ' वैतालीय' छन्द ।२ 'उपजाति' अर्थात् 'इंन्द्रवज्रा और 'उपेन्द्रवज्रा का संकर है ।

राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद्भयमुपस्थितम् ॥ बाले वारय पांथस्य वासदानविधानतः ॥ ६७ ॥

हे बाले ! राजाके प्रतिकूल होनेके कारण मुझ पथिक के उपस्थित होनेवाले महान भय को, (अपने) गृह में वासस्थान का दान देकर, निवारण कर ('राज' शब्द द्व्यर्थिक है) क्योंकि 'राज' चंद्रमाको भी कहते हैं. 'चन्द्र' विरहीजनों को दुःखद होता है (इससे इस श्लोक में यह भाव निकलता है कि अपने घर में मुझे स्थान दे मेरी कामव्यथाको शांत कर; कारण, चंद्रमा सहन होनेकी यही एकमात्र औषधि है)

मलयानिलमनलीयति मणिभवने काननीयति क्षणतः ॥ विरहेण विकलहृदया निर्जलमीनायते महिला ॥ ६८ ॥

विरह (वेदना) से विकलहृदयवाली कामिनी, मलयाचल संबंधिनी पवन को अनल और मणिमय भवन को वन मान जलविहीन मीनके समान आचरण करती है ।

कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद्विजानती नितराम् । अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावलिं किलामनुत ॥ ६९ ॥

वह (विरहव्याकुला) बाला, कालागरु चंदन के रस को निपट हालाहल[विष] जान, नीलकमल की माला को भी ठीक ठीक व्याल [सर्प] पंक्ति समुझती है । (कालागरु का पंक और विष, तथा नीलोत्पलमाळा और व्याल एकही

रंग के होते हैं इससे सहजही भ्रमोत्पादक है, फिर वियोगजनित दुःख से संतप्तजनों को विपरीत क्यों न दिखाई देंगे? उनको तो इन शांतिकारक पदार्थों से अधिकाधिक कष्ट होता है)

विधिवंचितया मया न यातं सखि संकेतनिकेतनं
प्रियस्य॥ अधुना बत किं विधातुकामो मयि
कामो नृपतिः पुनर्न जाने ॥ ७० ॥

हे सखि! मैं हतभागिनी प्रियतम के संकेतस्थानको न गई; हाय! (इस करण) मदन महीप न जानें मुझे क्या करेंगे (मनोजराजके आज्ञानुसार मैं प्रियकी सहेटको न गई अत एव वचन उल्लंघन करनेके अपराध में मुझको महान दंड मिलेगा यह भाव है)

विरहेण विकलहृदया विलपंती दयित दयि-
तेति॥ आगतमपि तं सविधे परिचयहीनेव
वीक्षते बाला॥ ७१ ॥

वियोगसे विकल हृदय वाली, 'हे प्रिय', 'हे प्रिय', इस प्रकार विलाप करनेवाली, बाला स्वसंनिकट भागमें भी आये हुए नायकको अपरिचित [अजान] की भाँति देखती है (अधिक विरहव्यथाके कारण मोह उत्पन्न होनेसे स्मरण शक्ति जाती रही, इस हेतु यद्यपि वह प्रियतमके नामसे बारम्बार विलाप करती थी तथापि पास आनेसे भी वह उसे पहिचाननेको समर्थ नहीं हुई)

---

१ 'माल्यभारा छन्द है।

दारिद्र्यं भजते कलानिधिरयं राकाऽधुना म्ला-
यति स्वैरंकैरवकाननेषु परितो मालिन्यमुन्मी-
लति ॥ द्योतंते हरिदंतराणि सुहृदां वृंदं समानं-
दति त्वं चेदंचसि कांचनाङ्गि वदनांभोजे विका-
सश्रियम् ॥ ७२ ॥

हे सुवर्णवर्णे ! यदि तू अपने वदनकमलमें विकाश की शोभाको धारण करेगी (अर्थात् मुखको विकसित हास्य करेगी) तो इस समयमें यह चंद्रमा तुच्छ हो जावेगा, पूर्णिमा की रात्रि म्लानत्वको धारण करेगी, कुमदवनमें सर्व ओर यथेष्ट संकोच उत्पन्न होगा, दिगन्त प्रकाशित होंगे (और) हितूजन आनंद पावेंगे ('मानिनी, नायिका प्रति सखीकी उक्ति है । मान त्याग करनेसे इतनी श्रेयस्कर बातें होंगी यह सूचित करती है । मुखरूपी कमलके विकसनेसे सूर्योदय हुआ यह जान उपरोक्त पदार्थोंके यथायोग्य व्यापार होने लगेंगे यह भाव है)

पाटीरद्रुभुजंगपुंगवमुखायाता इवातापिनो वाता
वांति दहंति लोचनममी ताम्रा रसालद्रुमाः ॥
एते हंत किरंति कूजितमयं हालाहलं कोकिला
बाला बालमृणालकोमलतनुः प्राणान् कथं
रक्षतु ॥ ७३ ॥

चंदन वृक्ष संबंधी बडे बडे सर्पों के मुख से निकली हुई वायु के समान संतप्त समीर चलती है, आरक्तवर्णपल्लव-

युक्त आम्रद्रुम नेत्रों को दहन करते हैं, कोकिला की वाणी विष (सा) बरसाती है, हाय ! (फिर) नूतनोत्पन्नमृणाल के समान कोमल अंगवाली बाला किस प्रकार प्राण की रक्षा करेगी ? (वसंत आगम में विरहणी की जो दशा होती है उसका वर्णन है । एक साथ अनेक भाव दरशाने से 'समुच्चय, अलंकार हुआ)

आयातैव निशा मनो मृगदृशामुन्निद्रमातन्वती
मानो मे कथमेष संप्रति निरातंकं हृदि
स्थास्यति ॥ ऊहापोहमिमं सरोजनयना याव-
द्विधत्तेतरां तावत्कामनृपातपत्रसुषमं बिंबं
बभासे विधोः ॥ ७४ ॥

मृगलोचनियों के मन में उन्निद्रता[1] को विस्तार करनेवाली रात्रि आगई, अब यह मेरा मान हृदयमें निःशंक होकर कैसे रहैगा ? इस प्रकार के तर्क वितर्क जबतक कमलनयनी करती है तब तक मैनमहीप के छत्र की शोभा (को धारण करने) वाले चन्द्रमा का बिंब उदित हुआ (नायिका सशंक होही रही थी कि रात्रि में कामातुर होकर रोष त्यागि मुझे नायक के निकट जानाहोगा कि चंद्र बिंब ने दर्शन दे मान छुडाने में सहायता दी । इस में 'समाधि' अलंकार है; 'समाधि' अलंकार उसे कहते हैं जहां किसी कारण से कार्य सुगम होजाता है)

---

१ नींद के न आने के भाव को

प्रभातसमयप्रभां प्रणयिनिह्नुवानां रसादमुष्य
निजपाणिना दृशममीलयं लीलया ॥ अयं तु
खलु पद्मिनीपरिमलालिपाटच्चरै रवेरुदयमध्य-
गादधिकचारु तैर्मारुतैः ॥ ७८ ॥

प्रातःकालकी शोभा (अर्थात् अरुणोदय) को प्रिय-
तमसे छिपानेके लिए अनुरागवश मैंने कुतूहल से उसके नय-
नों को अपने हाथों से आच्छादित किया, परंतु कमलिनीके
सौरभसमूह को हरण करनेवाले परमोत्कृष्ट पवन ने सूर्योदय
का बोध कराया (रविके निकल आने से नायक ने सेज
त्यागी और नायिका का इच्छित कार्य जिसके अर्थ वह
दिनकी रात्रि करनेको प्रयत्न करती थी न हुआ। विपरीत
फलप्राप्ति से इसमें 'विषम' अलंकार जानना)

विदूरादाश्चर्यस्तिमितमथ किंचित् परिचया-
दुदंचच्चांचल्यं तदनु परितः स्फारितरुचि ॥ गु-
रूणां संघाते सपदि मयि याते समजनि त्रपाघूर्ण-
त्तारं नयनमिह सारंगजदृशः ॥ ७६ ॥

इस स्थलके मध्य गुरुजनों के बीच में अकस्मात् मेरे
जाने से मृगशावकनयनी के नयन (मुझे) दूर से देख स्तब्ध
(निकट आने से) इसे कुछ कुछ पहिचानते हैं यह समुझ चंचल
तदनंतर (अधिक समीप भाग में प्राप्त होने से) परम दीप्ति
मान, (और अत्यंत पार्श्ववर्ती होने से) लज्जा के कारण

---

१ 'पृथ्वी' छंद है।

संभ्रमित तारोंवाले हुए (जिस स्थान में देवपूजनार्थ अथवा अपर किसी कारणसे नायिका गई वहीं उसका चिरकाल प्रोषित पति भी मिला—उसे देख नायिका के नयनों की जो दशा हुई उसका वर्णन नायक अपने मित्र से करता है)

कपोलावुन्मीलन्नवपुलकपाली मयि मनाङ्मृ-
शन्त्यंतःस्मेरस्तबकितमुखांभोरुहरुचः ॥ कथं-
कारं शक्याः परिगदितुमिंदीवरदृशो दलद्द्राक्षा-
निर्यद्रसभरसपक्षा भणितयः ॥ ७७ ॥

उत्पन्न हुई है नूतन पुलक जिनमें ऐसे (नायिका के) कपोल मुझ से किंचित्मात्र छुए जानेपर मनहीं मन की मुसकानिसे पुष्पगुच्छ के समान होनेवाले मुखरूपी कमलकी कांतिवाली सरोजनयनी के, दलित होनेवाले द्राक्षासे निकले हुए रससमूह के तुल्य (मीठे) वचन वर्णन किये जाने को किस प्रकार समर्थ हैं ।

राजानं जनयांबभूव सहसा जैवातृक त्वां तु यः
सोऽयं कुण्ठितसर्वशक्तिनिकरो जातो जरार्त्तो
विधिः ॥ संप्रत्युन्मदखंजरीटनयनावक्त्राय नि-
त्यश्रिये दाता राज्यमखंडमस्य जगतो धाता
नवो मन्मथः ॥ ७८ ॥

हे चंद्र ! जिस ब्रह्माने विना विचारे तुझे राजकीय पदवी को पहुंचाया अब वृद्धता के कारण उसकी सर्वशक्ति जाती रही; इस समयमें तो मन्मथरूपी नूतन ब्रह्माने उन्मत्त खंजन

---

१ आंख की पुतली ।

के समान नयनोंवाली (नायिका) के नित्य शोभायमान मुख को इस जगत्का अखंड राज्य प्रदान किया है (चंद्रमासे कोई कहता है कि तुझ से कामिनी का मुख अधिक शोभायमान है । अत्यंत सौंदर्यताके कारण यह संसारको जीतेगा यह भाव है)

आविर्भूता यदवधि मधुस्यदिनी नंदसूनोः कांतिः काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कार्मराज्ञा॥ श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे पांडिमा गंडमूले शून्या वृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत् ॥७९॥

समस्त नयनों को (अपनी ओर)आकर्षण करनेवाली मधुरता को टपकानेवाली, परम कुशला ऐसी नंदनंदनकी अवर्णनीय कांति ज्योंही प्रकटी त्योंही कुलकानि को पालन करनेवाली मृगलोचनियोंके मुखमें दीर्घ श्वास, कपोलोंमें पियराई (और) मनमें शून्यकारवृत्ति उत्पन्न हुई ।

प्रसंगे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपतेरुपाकर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः ॥ विषज्वालाजालं झटिति वमतः पन्नगपतेः फणायां साश्चर्यं कथयतितरां तांडवविधिम् ॥८०॥

प्रसंग (विशेष) में, वृद्ध गोपालोंके बीच, यदुपतिकी महिमाको श्रवण करके, प्रस्वेद युक्त पुलकित कपोलवाली कुलवधू, विषज्वालाके समूहको बडे वेगसे वमन करनेवाले सर्पराज [कालीय] के फणोंका नृत्यविधि आश्चर्यसे कहती

है (प्रियतमकी महिमा सुननेसे नायिकाको परम हर्ष हुआ परंतु गुरुजनोंसे उसका प्रकट करना उचित न जान कालीय मर्दनकी कथा कह कर अपने अंतर्गत भावको छुराया)

कैशोरे वयसि क्रमेण तनुतामायाति तन्व्यास्त-
नावागामिन्यखिलेश्वरे रतिपतौ तत्कालमस्या-
ज्ञया ॥ आस्ये पूर्णशशांकता नयनयोस्तादा-
त्म्यमंभोरुहां किंचासीदमृतस्य भेदविगमः
साचिस्मिते तात्त्विकः ॥ ८१ ॥

बाल्यावस्थामें कृशताको प्राप्त होने वाले अखिलेश्वर रतिपतिके तन्वी [कृशांगी] के शरीरमें क्रम क्रमसे प्रवेश होनेसे शीघ्रही उस (रतिपति) की आज्ञासे (नायिका के) मुखमें पूर्णचन्द्रबिंबकी आभा; नेत्रोंमें कमलकी सादृश्य और मंद मुसुकानिमें भेदरहित यथार्थ अमृतकी उत्पत्ति हुई (मदनके संचार होनेसे ऐसे व्यापार होते हैं यह प्रगटही है)

शयिता शैवलशयने सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव ॥
प्रियमागतमपि सविधे सत्कुरुते मधुर-
वीक्षणैरेव ॥ ८२ ॥

शोभामात्र शेष है जिसकी ऐसी (प्रतिपदाकी) नूतन उदित हुई इन्दुरेखाके समान, सिवारकी सेज पैं शयन करने वाली (नायिका), पार्श्वभागमें भी आएहुए प्रियतमका मधुर दृष्टीहीसे सत्कार करती है (अत्यंत विरहजन्य दुःखके कारण उठने बैठनेकी शक्ति जाने और प्राणमात्र शेष रहनेसे

---

१ 'वियोगिनी, छन्द है ।

प्रियकरकी ओर केवल दृष्टिपातही कर सकी और दूसरे व्यापार नहीं यह भाव है)

अधरद्युतिरस्तपल्लवा मुखशोभाशशिकांतिलं-
घिनी ॥ तनुरप्रतिमा च सुभ्रुवो न विधेरस्य
कृतिं विवक्षति ॥ ८३ ॥

अधरकी द्युति से (नूतनोद्गत कोमल) पल्लवों को परास्त करने वाली, शोभायमान मुखवाली और (सौंदर्यतायें) चंद्रमाकी कांतिको उल्लंघन करनेवाली, मनोहर भ्रुकुटीवाली (नायिका) की अनुपम देह इस ब्रह्माकी कर्तव्यको नहीं कहती है (देह का निर्माणकर्ता कोई दूसराही है, ब्रह्मा में इतनी शक्ति कहां कि ऐसी सुन्दर रचना करसकै यह भाव)

व्यत्यस्तं लपति क्षणं क्षणमहो मौनं समालंबते
सर्वस्मिन्विदधाति किं च विषये दृष्टिं निरालं-
बनाम् ॥ श्वासं दीर्घमुरीकरोति न मनागंगेषु
धत्ते धृतिं वैदेहीविरहव्यथाविकलितो हा हंत
लंकेश्वरः ॥ ८४ ॥

वैदेहीके विरहजनित व्यथा से व्याकुल हुआ लंकेश्वर क्षणमें विपरीत (बातें) कहता है; क्षणमें मौन रहता है, (क्षणमें) सर्व (संसारिक) विषयोंको शून्याकार दृष्टिसे देखता है. (क्षणमें) दीर्घश्वास लेता है; (और क्षणमें) किंचित्मात्र भी अंग में धैर्य धारण नहीं करता; हाय यह क्या ही कष्ट है !

उदितं मंडलमिंदोरुदितं सद्यो वियोगिवर्गे-

ण ॥ मुदितं च सकलललनाचूडामणिशासनेन मदनेन ॥ ८५ ॥

चंद्रमंडल उदित हुआ, विरहीवर्ग तत्काल रोये और समस्तकामिनीजनों का श्रेष्ठ शासन करनेवाला मन्मथ आनन्दित हुआ (सायंकाल वर्णन है, एकही साथ तीन भाव उत्पन्न होनेसे 'समुच्चय' अलंकार हुआ)

प्रादुर्भवति पयोदे कज्जलमलिनं बभूव नभः ॥ रक्तं च पथिकहृदयं कपोलपाली मृगीदृशः पांडुः ॥ ८६ ॥

मेघके प्रकट होनेसे आकाश कज्जलके समान मलिन, पथिकका हृदय अनुरागपूर्ण (और) कुरंगनयनी(नायिका) का कपोल प्रदेश पांडुवर्ण हुआ (इसमें भी 'समुच्चय' अलंकार है)

इदमप्रतिमं पश्य सरः सरसिजैर्वृतम् ॥ सखे मा जल्प नारीणां नयनानि दहन्ति माम् ॥ ८७ ॥

हे सखे ! कमल से आच्छादित किए गए अद्वितीय सरोवरको देख, (इस प्रकार बोलनेवाले को उसका मित्र उत्तर देता है कि तू ऐसी) कल्पना कर (कारण, कामिनी के नेत्र समान प्रफुल्लित कमलपुष्प अवलोकन करतेही) मुझे स्त्रीजनोंके नयन दहन करते हैं ।

मुञ्चसि नाद्यापि रुषं भामिनि मुदिरालिरुदियाय ॥ इति सुदृशः प्रियवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः ॥ ८८ ॥

हे भामिनी ! मेघमाला (आकाश में) प्रादुर्भूत हुई (परंतु तू) अद्यापि रोष नहीं त्यागती है; इस प्रकार कहे गये प्रियतम के वचनों ने, सुलोचनी (नायिका) के नयनकमल के कोण में उत्पन्न हुई अरुणताको निःशेष किया ।

आलोक्य सुन्दरि मुखं तव मन्दहासं;
नन्दन्त्यमन्दमरविन्दधिया मिलिन्दाः ॥
किं चासिताक्षि मृगलांछनसम्भ्रमेण
चंचूपुटं चटुलयन्ति चिरं चकोराः ॥ ८९ ॥

हे सुंदरि ! मन्दहासयुक्त मुखको अवलोकन कर अरविन्दबुद्धिसे (अर्थात् उसे अरविन्द जान, आसमंताद्भागमें) भ्रमर बहुशः गुंजार करते हैं, और हे कृष्णनयने ! मृगलांछन [चन्द्रमा] के भ्रमसे (उसी मुखचंद्र पर) चकोरपक्षी चिरकाल पर्य्यन्त चोंचको चंचल करते हैं। (चलाना चाहते हैं यह भाव है)

स्मितं नैतत्किन्तु प्रकृतिरमणीयं विकसितं
मुखं ब्रूते को वा कुसुममिदमुद्यत्परिमलम् ॥
स्तनद्वन्द्वं मिथ्या कनकनिभमेतत्फलयुगं
लता सेयं रम्या भ्रमरकुलनम्या न रमणी ॥ ९० ॥

यह मुसुकानि नहीं है, किंतु स्वभाव सौन्दर्यताका विकास है, इसे मुख कौन कहता है ? यह सुगन्धमय पुष्प है, ये स्तनद्वय नहीं है, सुवर्णवर्ण दो फल हैं, यह भ्रमर समूह से नम्रकी गई मनोहर लता है, यह रमणी नहीं (स्वधर्म को गोपन कर अन्यधर्मका आरोप करनेसे 'शुद्धापह्नुति' अलंकार हुआ)

संग्रामांगणसंमुखाहतकियद्विश्वंभराधीश्वरव्यादी-
र्णीकृतमध्यभागविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा ॥ अंगा-
रप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमंडलं, मार्तण्डोऽ-
यमुदेति केन पशुना लोके शशांकीकृतः ॥ ९१ ॥

संग्रामके आंगनकी अग्रभूमिमें प्राण त्यागे हुए अनेक मही-
पालोंसे विदीर्ण किए गए मध्य भागमें छिद्र होजानेसे प्रकट
हुई है आकाशकी नीलिमा जिसमें ऐसा, अपने अंगार समान
प्रदीप्त किरणोंसे इस भूमंडलको ग्रास करताहुआ यह
मार्तण्ड (सूर्य) उदय हुआ है, किस पशुने (इस) लोकमें
(इसे) शशांक चंद्र) किया ? (कोई विरहिणी चंद्रमासे
संतप्त होकर उसे सछिद्र सूर्य मानती है, सूर्यमें कालिमा नहीं
होती परंतु वह उसे भी दृढ करती है कि यह कालिमा सूर्य
ही की है क्योंकि रणमें प्राण त्याग करनेवाले योद्धा सूर्य-
मंडलको भेद करके ब्रह्मलोकको जाते हैं; इससे उन वीरोंके
प्रवेश करने से सूर्यके मध्य छिद्र हो जाने से आकाशकी
नीलिमा देख पडती है, अतएव यह सिद्ध हुआ कि यह चंद्र
नहीं सूर्यही है, वीरोंका सूर्यमंडल भेदना शास्त्रविहित है)

श्यामं सितं च सुदृशो न दृशोः स्वरूपं
किं तु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च ॥
नो चेत्कथं निपतनादनयोस्तदेव
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः ॥ ९२ ॥

सुलोचनी (नायिका) के नेत्रों का श्याम और शुभ्र स्वरूप
नहीं है किंतु यह स्फुट अमृत तथा विष है, यदि ऐसा न

होता तो इनका दृष्टिपात होते ही तत्काल युवापुरुष अत्यंत मोह तथा मोद (आनन्द) को क्यों प्राप्त होते ? (नयनों की श्यामता, गरल और शुभ्रता अमृत है. इसी से नायिका जिस पुरुष की ओर अमृत दृष्टि से अर्थात् प्रसन्न होकर देखती है उसे परमानंद होता है और जिसे विष दृष्टि से अर्थात् क्रुद्ध होकर देखती है उसे मोह होता है यह भाव इसमें 'अपह्नुति' अलंकार है)

अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किंचिद्विभासते ॥
अरविंदं मृगांको वा मुखं वेदं मृगीदृशः ॥९३॥

इस मृगनयनी का (यह) मुख है, अथवा मृगांक[चंद्रमा] है; अथवा कमल है, और इस (मुख) में शोभायमान यह) नेत्र है, अथवा मृग है, अथवा भ्रमर है ? (ऐसी शंका होती है । मुख में नेत्र, मृगांक में मृग और अरविन्द में अलि होतेही हैं इससे शंका अधिक पुष्ट हुई । यह 'संदेह, अलंकार है)

सुविरलमौक्तिकतारे धवलांशुकचंद्रिकाचमत्कारे । वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकाऽसि नात्र सन्देहः ॥ ९४ ॥

हारके विरल) मौक्तिकरूपी तारोंवाली, शुभ वस्त्र (के प्रकाश) रूपी चंद्रिका से चमत्कारवाली, वदनरूपी पूर्णचंद्रवाली हे सुन्दरि ! तू पौर्णिमा है, इसमें संदेह नहीं ('रूपक' अलंकार है)

रूपजला चलनयना नाभ्यावर्ता कचावलि-

भुजंगा ॥ मज्जन्ति यत्र संतः सेयं तरुणी तरं-
गिणी विषमा ॥ ९५ ॥

रूपरूपी जलवाली, चंचलनयनरूपी (मीनवाली) नाभि रूपी भ्रमरवाली, केशसमूहरूपी भुजंगमवाली यह तरुणी दुस्तर सरिता है; जिसमें (शृंगार शास्त्र प्रवीण) सज्जन मज्जन करते हैं (यह भी 'रूपक' है)

शोणाधरांशुसंभिन्नास्तन्वि ते वदनांबुजे ॥ केसरा
इव काशंते कांतदंतालिकांतयः ॥ ९६ ॥

हे कृशांगि ! अरुणअधर की किरणों से मिश्रित तेरे वदनकमल में मनोहर दंतपंक्ति की कांति केसर [किंजल्क] के समान शोभायमान है ।

दयिते रदनत्विषां मिषादयि तेऽमी विलसंति
केसराः ॥ अपि चालकवेषधारिणो मकरंदस्पृ-
हयालवोऽलयः ॥ ९७ ॥

अयि कामिनि ! तेरी दशनकांति के मिष से किंजल्क और मकरंद के लोभी (ये अलक वेषधारी भ्रमर, शोभायमान हो रहे हैं ('अपह्नुति' अलंकार है; इससे यह ध्वनि निकलती है कि, तू कामिनी नहीं है किंतु कमलिनी है)

तया तिलोत्तमीयंत्या मृगशावकचक्षुषा ॥ ममा-
ऽयं मानुषो लोको नाकलोक इवाभवत् ॥९८॥

उस तिलोत्तमा नामा अप्सरा के समान आचरण करनेवाली मृगशावकनयनी के कारण यह मेरा मर्त्यलोक स्वर्गलोक तुल्य हुआ है ।

अंकायमानमलिके मृगनाभिपंकं पंकेरुहाक्षि वदनं तव वीक्ष्य बिभ्रत् ॥ उल्लासपल्लवित-कोमलपक्षमूलाश्चंचूपुटं चटुलयंति चिरं-चकोराः ॥ ९९ ॥

हे कमलनयने ! भालमें कस्तूरी तिलक संयुक्त शोभायमान तेरे मुखको अवलोकन कर आनंद से प्रफुल्लित किये हैं कोमल पंखमूल जिन्होंने ऐसे चकोर पक्षी चिरकाल पर्यंत चोंच को चंचल करते हैं (चलाना चाहते हैं यह भाव । भाल में कस्तूरी के कृष्णवर्णके तिलक के कारण चकोरोंको सकलंक चंद्रमाका भ्रम होनेसे यह 'भ्रम' अलंकार हुआ)

शिशिरेण यथा सरोरुहं दिवसेनामृतरश्मि-मंडलम् ॥ न मनागपि तन्वि शोभते तव रोषे-ण तथेदमाननम् ॥ १०० ॥

हे कृशाङ्गि ! जैसे शिशिर ऋतुमें कमल और दिनमें चंद्रमंडल किंचित्मात्र भी शोभायमान नहीं होवे वैसे ही रोषमें यह तेरा मुख सुशोभित नहीं होता ।

चलद्भृंगमिवांभोजमधीरनयनं मुखम् ॥ तदीयं यदि दृश्येत कामः क्रुद्धोऽस्तु किं ततः ॥१०१॥

चंचलभृंगयुक्तकमल के समान चपलनयनोंवाला उस (कामिनी) का मुख यदि दर्शन को मिलै तो काम क्रुद्ध होकर क्या कर सकैगा ?

---

१ 'वियोगनी' छंद है ।

शतकोटिकठिनचित्तः सोऽहं तस्याः सुधैक-
मयमूर्तेः ॥ येनाकारिषि मित्रं सुविकलहृदयो
विधिर्वाच्यः ॥ १०२ ॥

जिसने उस सुधास्वरूप (नायिका) की मित्रता संपादन की वही विधिवंचित, विकल हृदय और वज्र के समान कठोर चित्तवाला मैं हूं (नायिका को प्रीतिपात्र बनाकर कुछ काल के अनन्तर मूर्खतावश उसका त्याग कर पश्चात् पश्चात्ताप करनेवाले नायक की उक्ति है)

श्यामलेनांकितं बाले भाले केनापि लक्ष्मणा ॥
मुखं तवांतरासुप्तभृंगफुल्लांबुजायते ॥ १०३ ॥

हे बाले ! भालमें श्यामवर्णके मनोहर चिह्न से चिह्नित तेरा मुख, मध्य में सोए हुए भ्रमर संयुक्त कुसुमित कमलके समान शोभायमान है ।

अद्वितीयं रुचात्मानं मत्वा किं चन्द्र हृष्यसि॥
भूमंडलमिदं मूढ केन वा विनिभालि-
तम् ॥ १०४ ॥

हे चन्द्र ! (मैं बड़ा) कांति (मान हूँ इस विचार) से अपनेको अद्वितीय मान क्यों हर्षित होता है ? अरे) मूढ ! इस भूमंडलको किसने देखा है ! (इसमें तेरे समान और भी सौन्दर्यमान हैं यह भाव है (किसी विरहीकी उक्ति है; मेरी प्रियतमाका मुख त्वत्तुल्य दीप्तिमान है यह ध्वनी, इसमें निकलती है)

नीलांचलेन संवृतमाननमाभाति हरिणनयनायाः ॥
प्रतिबिंबित इव यमुनागभीरनीरांतरेणांकः ॥१०५॥

नीलपट से आच्छादित मृगनयनीका मुख, यमुनाके गंभीर नीरमें प्रतिबिंबित चन्द्रमाके समान शोभायमान है ।

स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात्कुटिलोऽलकः ॥
शशांकबिंबतो मेरौ लंबमान इवोरगः ॥ १०६ ॥

कुटिल अलक, कपोलसे कुचमंडलके ऊपर गिर, चन्द्र-बिंबसे सुमेरुपर्वत पै लंबायमान सर्पके समान शोभा देती है?

यथा लतायाः स्तबकानतायाः स्तनावनम्रे
नितरां समाऽसि ॥ तथा लता पल्लविनी सगर्वे
शोणाधरायाः सदृशी तवाऽपि ॥ १०७ ॥

हे स्तनभारनम्रे ! जैसे पुष्पगुच्छोंसे नतहुई लताके समान (तू) अत्यंत (नम्र) है, तैसी ही हे सगर्वे ! [गर्वसहिते]तेरे अरुण अधरोंके सदृश (नूतन) पल्लववाली लता भी है (स्तनभारसे विशेष नम्र होनेके कारण मैं नतलताकी उपमान हुई यह समुझ गर्व न कर, पल्लविनी लता भी तेरे अधरोंकी उपमान है यह भाव है)

इदं लताभिः स्तबकानताभिर्मनोहरं हंत वनां-
तरालम् ॥ सदैव सेव्यं स्तनभारवत्यो न
चेद्युवत्यो हृदयं हरेयुः ॥ १०८ ॥

स्तनभारवती युवती यदि चित्तको न हरण करै तो पुष्प गुच्छ से नम्रहुई लताओंसे सौन्दर्यमान काननका मध्यभाग

सदैव सेवने योग्य है (नम्रलताओंको अवलोकन कर कामिनीका स्मरण होगा यह भाव है)

सा मदागमन बृंहिततोषा जागरेण गमिताखिलदोषा ॥ बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न प्रातराननजसौरभलुब्धैः ॥ १०९ ॥[1]

मेरे आगमनसे अधिक हुआ है संतोष जिसको (और) जागरण से व्यतीत की है सारी रात्रि जिसने ऐसी वह (नायिका) प्रातःकाल मुखोत्पन्न सुगंध के लोभी मधुपों के जगाने से भी न जगी ।

अविचिंत्यशक्तिविभवेन सुंदरि प्रथितस्य शंबररिपोः प्रभावतः ॥ विधुभावमंचिततमांतवाननं नयने सरोजदलनिर्विशेषताम् ॥ ११० ॥[2]

हे सुन्दरि ! अपूर्व शक्तिवैभव से प्रसिद्ध मन्मथके प्रभाव से तेरा मुख चंद्रभाव को और नयनद्वय कमलदल की समता को प्राप्त हुए हैं (मदन संचार होने से मुख चंद्र समान और नयन कमल समान हुए यह भाव है)

मीनवती नयनाभ्यां करचरणाभ्यां प्रफुल्लकमलवती ॥ शैवालिनी च केशैः सुरसेयं सुंदरी सरसी ॥ १११ ॥

युमलनयनों से मीनवाली, कर तथा चरणों से प्रफुल्लित कमलवाली और केशकलापसे सिवारवाली यह रसमई सुन्दरी सरोवारिनी है 'रूपक' अलंकार है)

---

१ यह 'स्वागता' छंद है । २ 'मंजुभाषिणी' छंद है ।

पांथ मंदमते किं वा संतापमनुविन्दसि ॥ पयो
धरं समाशास्व येन शांतिमवाप्नुयाः ॥११२॥

हे मंदमति पथिक! क्यों (काम) संतापको सहता है? (अरे पयोधर [कुच] की आशा कर जिस से शांति प्राप्त होवै (पथिक को उपदेश है कि, कंदर्पताप पयोधर ही शांत करेंगे इससे उनका अवलंबन उचित है। यह श्लोक द्व्यर्थिक है; दूसरे अर्थमें संताप से दाह और 'पयोधर' से 'मेघ' अर्थ लेना चाहिये)

संपश्यतां तामतिमात्रतन्वीं शोभाभिराभासित-
सर्वलोकाम् ॥ सौदामिनी वा सितयामिनी वेत्येवं
जनानां हृदि संशयोऽभूत् ॥ ११३ ॥

शोभा से सर्व लोक को सुशोभित करनेवाली उस अतीव कृशाङ्गी (नायिका) को अवलोकन करनेवाले मनुष्योंके हृदयमें ' यह सौदामिनी है अथवा शुक्ल यामिनी है' इस प्रकारका संशय उत्पन्न हुआ ('संदेह' अलंकार है)

सपल्लवा किं नु विभाति वल्लरी सफुल्लपद्मा कि-
मियं नु पद्मिनी ॥ समुल्लसत्पाणिपदां स्मिता-
ननामितीक्षमाणैः समलंभि संशयः ॥ ११४ ॥

उल्लसित करचरणोंवाली हास्यमुखी (नायिका) के देखनेवालों को 'पल्लव सहित यह लताही शोभायमान है क्या' ? अथवा 'कुसुमित है कमल जिसमें ऐसी पद्मिनी[3] ही

१ 'इन्द्रवज्रा' छंद है ।२ 'वशंस्थ' छंद है । ३ तडागिनी, सरोवरिनी ।

है क्या' ? इस प्रकारका संशय हुआ (यह भी 'संदेह' अलंकार है)

नेत्राभिरामं रामाया वदनं वीक्ष्य तत्क्षणम् ॥ स-
रोजं चन्द्रबिंबं वेत्यखिलाः समशेरत ॥११५॥

उस काल में, नेत्रों को आनंद देनेवाले कामिनीके मुख को देख 'यह कमल है अथवा चंद्रबिंब है' इस प्रकार सब को शंका हुई ।

कनकद्रवकांतिकांतया मिलितं राममुदीक्ष्य
कांतया ॥ चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातक-
पोतकैर्वने ॥ ११६ ॥

सुवर्णरसकी कांतिके समान सुन्दर सीताजी के संगमें रामचंद्र को अवलोकन कर. चपलासंयुक्त यह मेघही है. इस भ्रमसे चातकशावकोंने वनमें नृत्य किया ('भ्रम' अलंकार है)

वनितेति वदंत्येतां लोकाः सर्वे वदंतु ते ॥ यूनां
परिणता सेयं तपस्येति मतं मम ॥ ११७ ॥

सर्वजन इसे 'वनिता' कहते हैं सो वे कहें (परंतु) मेरे मतसे तो यह युवा पुरुषोंकी तपस्याका फल है ।

स्मयमानाननां तत्र तां विलोक्य विलासिनीम् ॥
चकोराश्चंचरीकाश्च मुदं परतरां ययुः ॥ ११८ ॥

उस स्मितमुखी विलासिनी (नायिका) को देख चकोरों

---

१ 'वैतालीय' छंद ।

और भ्रमरों को अत्यंत आनंद हुआ (चकोर, मुखको चन्द्र और भ्रमर कमल मान प्रमुदित हुए यह भाव । 'भ्रम' अलंकार है)

वदनकमलेन बाले स्मितसुषमालेशमादधासि यदा ॥ जगदिह तदैव जाने दशार्धबाणेन विजितमिति ॥ ११९ ॥

हे बाले ! जब तू वदनकमल में लेशमात्र मुसुकानि की शोभा को धारण करती है तभी मैं यह जानता हूं कि इस जगत् को पंचसायक [मन्मथ] ने विजय किया ।

कलिंदजानीरभरेऽर्धमग्ना बकाः प्रकाम कृतभूरिशब्दाः ॥ ध्वांतेन वैराद्विनिगीर्यमाणाः क्रोशंति मन्ये शशिनः किशोराः ॥ १२० ॥

यमुनाजलमें निमग्न है अर्द्ध शरीर जिनका ऐसे; बहुत शब्द करनेवाले ये बक (नहीं किंतु) वैरभावके कारण अंधकारसे (अर्द्ध) निगलेगए मेरे जान चन्द्रमाके बालक रुदन कर रहे हैं ।

परस्परासंगसुखान्नतभ्रुवः पयोधरौ पीनतरौ बभूवतुः ॥ तयोरमृष्यन्नयमुन्नतिं परामवैमि मध्यस्तनिमानमेति ॥ १२१ ॥

परस्परके संयोग सुखसे, नम्रभृकुटीवाली (नायिका) के पयोधर विशेष स्थूल हुए । मेरे जान इनकी परम उन्नति को न सहन करनेसे कटिको कृशता हुई (लंककी कृशताका

कारण कुचोंकी स्थूलताका न सहन है यह भाव। 'उत्प्रेजा' अलंकार है)

जनमोहकरं तवालि मन्ये चिकुराकारमिदं वनांधकारम् ॥ वदनेंदुरुचामिहाप्रचारादिव तन्वंगि नितांतकांतिकांतम् ॥ १२२ ॥

हे आलि! हे कृशाङ्गि! मनुष्यों को मोह उत्पन्न करने वाले और मुखरूपी चंद्रमाकी कांति का प्रचार नहीं है जिसमें ऐसे इस तेरे महा मनोहर केशपाश को मैं निबिड अन्धकार मानता हूँ ('उत्प्रेक्षा' अलंकार है)

दिवानिशं वारिणि कंठदघ्ने दिवाकराराधनमाचरंती ॥ वक्षोजतायै किमु पक्ष्मलाक्ष्यास्तपश्चरत्यंबुजपंक्तिरेषा ॥ १२३ ॥

कंठपर्य्यन्त जल में निशिदिन दिवाकर [सूर्य] को आराधनेवाली यह कमलपंक्ति, क्या सुलोचनी (नायिका) के कुच होने के लिए तपश्चर्या करती है ? ('फलोत्प्रेक्षा' अलंकार है)

वियोगवह्निकुण्डेऽस्मिन् हृदये ते वियोगिनी ॥ प्रियसंगसुखायैव मुक्ताहारस्तपस्यति ॥ १२४ ॥

हे वियोगिनी! विरहरूपी अग्निके कुंड धारण करनेवाले इस तेरे हृदयमें मुक्ताहार, प्रियतमके संगसे होनेवाले सुख के अर्थ, तपस्या करता है (यह भी 'उत्प्रेक्षा' है)

---

१ 'माल्यभारा'।

निधिं लावण्यानां तव खलु मुखं निर्मितवतो महामोहं मन्ये सरसिरुहसूनोरुपचितम् ॥ उपेक्ष्य त्वां यस्माद्विधुमयमकस्मादिह कृती कलाहीनं दीनं विकल इव राजानमकरोत् ॥ १२५ ॥

तेरे लावण्यराशि मुख को निर्माण करनेवाले ब्रह्मदेवको मेरे जान महामोह प्राप्त हुआ, कारण, तेरी उपेक्षा कर, इस क्रियाकुशल विधि ने विकल (बुद्धि) की भांति कलाहीन दीन चंद्रमा को इस लोकमें राजा किया (सकल रमणीय पदार्थों में श्रेष्ठ तुझे करना था परंतु तेरे महामनोहर मुख को देख ब्रह्माने मोहित (सदसद्विचार हीन) होकर राजत्व चन्द्रको दिया यह भाव)

स्तनांतर्गतमाणिक्यवपुर्बहिरुपागतम् ॥ मनोऽनुरागि ते तन्वि मन्ये वल्लभमीक्षितुम्॥१२६॥

हे कृशांगि ! तेरा अनुरागी मन स्तनोंके मध्य माणिक्य के रूपमें बाहर आय मेरे जान प्रियतम को अवलोकन करनेकी इच्छा करता है ('अपह्नुति' अलंकार है)

जगदंतरममृतमयैरंशुभिरापूरयन्नितराम् ॥ उदयति वदनव्याजात् किमु राजा हरिणशावनयनायाः ॥ १२७ ॥

मृगशावकनयनीके वदन [मुख] के मिष से जगत्को अमृत मय किरणोंसे भली भांति पूरित करनेके लिए क्या यह) चंद्रमा उदय हुआ है ? ('उत्प्रेक्षा' अलंकार है)

तिमिरशारदचन्दिरचन्द्रिकाः कमलविद्रुमचंपक-
कोरकाः ॥ यदि मिलकति दापि तदाननं खलु
तदा कलया तुलयामहे ॥ १२८ ॥

(निबिड) अंधकार, शरच्चन्द्र, चंद्रिका, कमल, विद्रुम और चंपककली यदि किसी काल (एक पदार्थ) में मिलें तो मैं उस नायिका के आनन की एक कला की तुलना करूँ (तिमिर—केशकलाप, शरच्चन्द्र—मुख, चंद्रिका—लावण्यता, कमल—नयन, विद्रुम—ओष्ठ, चंपककलिका—दंत जानना)

प्रिये विषादं जहिहीति वाचं प्रिये सरागं वदति
प्रियायाः ॥ वारामुदारा विजगाल धारा विलो-
चनाभ्यां मनसश्च मानः ॥ १२९ ॥

'हे प्रिये ! विषाद त्यागिये ' इस प्रकार अनुरागयुक्त प्रियतमके कहने से नायिकाके लोचनद्वयसे अपरिमित अश्रु-धारा और मनसे मान (दोनों एक ही साथ) स्खलित हुए। (एक कारणसे दो कार्य भए इससे 'समुच्चय' अलंकार हुआ)

राज्याभिषेकमाज्ञाय शंबरासुरवैरिणः ॥ सुधा-
भिर्जगतीमध्यं लिंपतीव सुधाकरः ॥ १३० ॥

मन्मथका राज्याभिषेक (होनेवाला है यह) जान चंद्रमा पृथ्वीतलको मानों सुधासे लीप रहा है (चन्द्रिका का वर्णन है। इसमें 'समासोक्ति' और 'उत्प्रेक्षा' अलंकारका संकर है)

आननं मृगशावाक्ष्या वीक्ष्य लोलालकावृतम् ॥
भ्रमद्भ्रमरसंभारं स्मरामि सरसीरुहम् ॥१३१॥

---

१ यह 'द्रुतविलंबित' छन्द है।

मृगशावकनयनी का, चंचल अलक से आच्छादित मुख अवलोकन कर मैं भ्रमण करनेवाले भ्रमरसमूहसंयुक्त कमल को स्मरण करताहूं ('स्मृति' अलंकार है)

यांती गुरुजनैः साकं स्मयमानाननांबुजा ॥ तिर्यग्ग्रीवं यदद्राक्षीत् तन्निष्पत्राकरोज्जगत् ॥ १३२ ॥

गुरुजनोंके साथ गमन करनेवाली; सहास्यमुखरूपी कमल वाली (बाला) ने जिसकी (ओर) तिरछी ग्रीवा करके देखा उसको महान् व्यथा उत्पन्न की (इसमें 'निदर्शन, अलंकार है)

नयनानि वहंतु खंजनानामिह नानाविधमंगभंगभाग्यम् ॥ सदृशं कथमाननं सुशोभं सुदृशो भंगुरसंपदांबुजेन ॥ १३३ ॥

(जिसके नेत्रों को अवलोकन कर) खंजन नेत्र नाना प्रकार (अपने को) हतभाग्य समझते हैं (उस) सुलोचनी के मनोहर मुख की सादृश्य भंगशील है शोभा जिसकी ऐसे कमल से कैसे होसकती है ? (उपमान से उपमेय की अधिकता वर्णन करने से 'व्यतिरेक' अलंकार हुआ ।)

मृणालमंदानिलचंदनानामुशीरशैवालकुशेशयानाम् ॥ वियोगदूरीकृतचेतनानां विनैव शैत्यं भवति प्रतीतिः ॥ १३४ ॥

वियोगके कारण जाती रही है चेतना जिनकी ऐसे पुरुषों को मृणाल, मंद वायु, चंदन, खस शैवाल (सिवार) और

---

१ 'माल्यभारा' ।

कमल शीतलता शून्य अर्थात् उष्ण प्रतीत होते हैं ।

विबोधयन् करस्पर्शैः पद्मिनीं मुद्रिताननाम् ॥
परिपूर्णोऽनुरागेण प्रातर्जयति भास्करः ॥१३५॥

प्रातःकाल मुकुलितमुखी कमलिनीको किरणस्पर्शसे जाग्रत करनेवाला प्रेमपूर्ण भास्कर [सूर्य] जय पावै। (प्रस्तुत सूर्य वर्णन अप्रस्तुत नायक वृत्तांत में घटित होनेसे 'समासोक्ति' अलंकार हुआ । नायकपक्षमें पद्मिनीसे पद्मिनी नायिका; मुकुलित मुखीसे आलस्यमुखी करस्पर्शसे हस्त-स्पर्श और अरुणसे अनुरागी अर्थ लेना चाहिये)

आनम्या वल्गुवचनैर्विनिवारितेऽपि रोषात् प्रया-तुमुदिते मयि दूरदेशम् ॥ बाला करांगुलिनिर्दे-शवशंवदेन क्रीडाबिडालशिशुनाऽऽशु रुरोध मार्गम् ॥ १३६ ॥

नम्र और कोमल वचनों से निवारण किये जाने पै भी क्रोधवशात् दूरदेश को प्रयाण करनेके लिए मुझ उद्यत होनेवाले का मार्ग, बाला ने, हस्त की अंगुली की आज्ञा से वश किएगए, विनोदी बिडाल शावक (खेलके हेतु पाये हुए बिल्ली के बच्चे) से रोका । (विदेशगमन वेला में बिडालका मार्ग काटना अशुभ सूचक होता है)

अभूदप्रत्यूहः कुसुमशरकोदंडमहिमा विलीनो लोकानां सह नयनतापोऽपि तिमिरैः ॥ तवा-ऽस्मिन् पीयूषं किरति परितस्तन्वि वदने कुतो हेतोः श्वेतो विधुरयमुदेति प्रतिदिनम् ॥१३७॥

हे कृशांगि ! इस तेरे मुख में मन्मथ के धनुष का प्रताप निर्विघ्न (उदित) हुआ, (और ऐसा होने से) अंधकारके साथ मनुष्यों का नयनताप भी नष्ट हुआ; (तो भला) सर्व ओर अमृत बरसाते हुए यह श्वेत[1] चन्द्रमा प्रतिदिन फिर क्यों उदित होता है ? (मुख में चन्द्रमा का आक्षेप करके उसको निष्फल ठहराया जब तक चंद्रोदय नहीं होता तब तक अन्धकार रहता है, उसके उदय होने से सर्व ओर प्रकाश फैल-जाता है; और मनुष्यों को उसकी शीतल किरणों से सुख होता है—स्त्री जब तक युवा नहीं होती तब तक उसका मुख मलीन—मलीन क्या तिमिराच्छादित सा रहता है, शरीर में मदनसंचार होने से वही मुख परम प्रकाशमान हो जाता है, और देखनेवालों को आनंद देता है, इस प्रकार चंद्र और कामिनीके मुख की तुलना उपरोक्त श्लोकमें की है । इसमें 'आक्षेप' और 'सहोक्ति' अलंकार का संकर है)

विनैव शस्त्रं हृदयानि यूनां विवेकभाजामपि दार-यंत्यः ॥ अनल्पमायामयवल्गुलीला जयंति नीलाब्जदलायताक्ष्याः ॥ १३८ ॥

विवेकी युवा पुरुषोंके भी हृदय को विना शस्त्रके विदारण करनेवाली, महामनोहर मायावी लीलावाली कमलदललोचनी (कामिनी) जय पावैं । (शस्त्ररूपी कारणके विना हृदय विदारणरूपी कारज होनेसे 'विभावना' अलंकार हुआ)

यदवधि विलासभवनं यौवनमुदियाय चंद्रवद-

---

१ चंद्रमा क्षयी होने के कारण 'श्वेत' शब्द से वर्णकी पांडुरता सूचित की।

नायाः ॥ दहनं विनैव तदवधि यूनां हृदयानि दह्यंते ॥ १३९ ॥

चन्द्रवदनी (कामिनी) का विलासस्थानरूपी यौवन जब तक नहीं उदित हुआ तबतक अग्निके विना ही तरुण पुरुषों के हृदय दग्ध होने लगे (यह भी 'विभावना' अलंकार हुआ)

न मिश्रयति लोचने सहसितं न संभाषते कथासु तव किं च सा विरचयत्यरालां भ्रुवम् ॥ विपक्षसुदृशः कथामिति निवेदयंत्या पुरः प्रियस्य शिथिलीकृतः स्वविषयेऽनुरागग्रहः ॥ १४० ॥

सपत्नी मुग्धा नायिकाके ऊपर विशेष प्रीति करनेवाले नायकसे मुग्धाके दोष वर्णन करके उसके विषयमें नायकको अरुचि उत्पन्न करनेवाली प्रौढा नायिकाकी उक्ति है:—'वह (मुग्धा) नयनोंको नही मिलाती है, तव सबन्धी कथामें सहास्य (मुख होकर) भाषण नहीं करती किंतु भृकुटी वक्र चढाती है' इस प्रकार सपत्नी की कथाको प्रियके सन्मुख निवेदन करनेवाली नायिकाने नायकके मुग्धाविषयक अनुरागको शिथिल [न्यून] किया । (असत्य बातका सत्यैव प्रतिपादन करनेसे 'विषम' अलंकार हुआ)

वडवानलकालकूटवत् मकरव्यालगणैः सहैधितः ॥ रजनीरमणो भवेन्नृणां न कथं प्राणवियोगकारणम् ॥ १४१ ॥

---

१ 'पृथ्वी' छन्द है । २ 'वैतालीय छन्द है ।

वडवाग्नि, कालकूट [विष], मकर,[नक्र]और सर्पगणोंके सह वृद्धिंगत चंद्रमा मनुष्योंके प्राणनाशका कारण क्यों न होवै ? (जिस समुद्रमें ये उपरोक्त दुःखदाई पदार्थ तथा जीव रहते हैं उसी से चंद्रमाकी भी उत्पत्ति है, इस हेतु उनका संग होना इसे संभवही है; बस तो जिस प्रकार उसके साथी प्राण लेने में कुशल हैं उसी प्रकार चंद्र भी क्यों न होना चाहिये? (यह किसी विरहिणीकी उक्ति है। दुष्टसंगरूपी कारणके अनुसार प्राणघातरूपी कारजका वरणन करने से 'सम' अलंकार हुआ)

लभ्येत पुण्यैर्गृहिणी मनोज्ञा तया सुपुत्राः परितः पवित्राः ॥ स्फीतं यशस्तैः समुदेति नित्यं तेनास्य नित्यः खलु नाकलोकः ॥ १४२ ॥

पुण्यसे सुंदर स्त्री मिलती है; स्त्रीसे सच्चरित्र सुपुत्र (होते हैं) पुत्रोंसे विमल यशका दिन दिन उदय होता है. और यशसे इसको[1] (यह लोक) नित्य स्वर्लोकतुल्य (हो जाता है)। इस पद्यमें एक वस्तु दूसरेका कारण है इससे 'कारणमाला' अलंकार हुआ।

प्रभुरपि याचितुकामो भजते वामोरु लाघवं सहसा ॥ यदहं त्वयाऽधरार्थी सपदि विमुख्या निराशतां नीतः ॥ १४३ ॥

हे वामोरु[2] ! याचना करने वाले प्रभु [स्वामी--समर्थवा-

---

१ जिस पुरुषको ये पदार्थ प्राप्त हैं उसको। २ मनोहरोरु सुंदर है जंघा जिसकी ऐसी।

नपुरुष] भी सहसा लघुत्वको प्राप्त होते हैं, जिसप्रकार तुझ पराङ्मुखी के अधर (पान) की इच्छाकरनेवाला मैं शीघ्रही निराशता को पहुँचा हूं (अधर चुंबन करने का अधिकार भी होकर निराश किया जाना याचना का महाही दुःखद फल हैं; जब अधिकारियों को उन वस्तुओं के याचने में जिन पै उनका सत्त्व है यह दशा होती है तो साधारण याचकों को लघुत्व मिलना यथार्थ ही है । इसमें 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है)

जलकुंभमुंभितरसं सपदि सरस्याः समानयंतया-
स्ते ॥ तटकुंजगूढसुरतं भगवानेको मनोभवो
वेद ॥ १४४ ॥

जलपूरित जलघट सरोवर से सवेग लानेवाली तेरी, तट के कुंज मे गुप्त रति को एक भगवान मनोभव [कामदेव] ही जानते हैं (गुप्त रति करनेवाली नायिकाके प्रति सखी की उक्ति है । सुरत में भी कंप, निःश्वास इत्यादिक होते हैं और वेगसे चलने में भी, इस कारण उपरोक्त नायिका की यह दशा इन दो में से किस कारण से हुई यह स्पष्ट न होने से 'मीलित' अलंकार हुआ)

त्वमिव पथिकः प्रियो मे विटपिस्तोमेषु गम-
यति क्लेशान् ॥ किमितोऽन्यत् कुशलं मे संप्रति
यत्पांथ जीवामि ॥ १४५ ॥

किसी पथिक से कुशलप्रश्न पूंछिगई कोई 'प्रोषितपतिका' नायिका उत्तर देती है:—हे पांथ [पथिक] तेरे समान मेरा

पथिक प्रियतम वृक्षसमूहों में क्लेश पाता है. इस कालमें इससे अन्यत् मेरी क्या कुशल है जिससे मैं जीवित रहूं ?

किमिति कृशासि कृशोदरि किं तव परकीय-
वृत्तान्तैः ॥ कथय तथापि मुदे मम कथयिष्यति
पांथ तव जाया ॥ १४६ ॥

कोई पथिक किसी नायिकासे प्रश्न करता है कि) हे कृशोदरि ! तू इतनी कृश क्यों है ?(यह सुन नायिका उत्तर देती है) दूसरेके वृत्तांतसे तुझ क्या ?(पथिक फिर पूंछता है) तथापि मेरे विनोदार्थ कह, (उसका उत्तर वह देती है) हे पांथ ! (तेरे प्रश्नका उत्तर) तेरी स्त्री देगी (पथिकके प्रश्नका यह अभिप्राय है कि यदि तू कृश होनेका कारण कहे तो मैं तेरे दुःखनिवारणार्थ प्रयत्न करूं, पथिकने यह जाना कि वह विरहसे कृशाङ्गि है; परंतु सती स्त्री दूसरे पुरुष से अपना वृत्त नहीं कहतीं इससे नायिकाने उत्तर देना अनुचित समझी,जब पांथने अधिक अनुरोध किया तब नायिकाने अपने उत्तरसे यह सूचना की कि मेरी कृशताका कारण तेरी स्त्री कहेगी अर्थात् जिस प्रकार मेरा पति विदेशी होने से कामव्यथाने मुझे कृश किया है उसी प्रकार तेरे पथिक होनेसे तेरी स्त्रीको भी किया होगा। इसमें यह ध्वनि निकली है कि निज स्त्रीके कृशताकी औषधि न कर मुझ से कारण पूंछता है इससे तू महामूर्ख है)

तुलामनालोक्य निजामखर्वं गौरांगि गर्वं न क·

दापि कुर्याः ॥ लसंति नानाफलभारवत्यो लताः कियत्यो गहनांतरेषु ॥ १४७ ॥

हे गौरांगि ! अपनी योग्यता को न देख बहुत गर्व न कर, वनप्रदेश में नाना प्रकार के फलों से भारवती कितनी हीं लता शोभायमान हैं (तेरे पास तो कुचरूपी दो ही फल होते हैं परन्तु लताओं में अनेक फल होते हैं और तिस पर भी वे अपने ऐश्वर्य का गर्व न कर सबको हाथ लगाने देती हैं यह भाव)

इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा परिफुल्लं नयनांबुजद्वयं ते । जलदादिभयं जगद्वितन्वन् कलितः क्वापि किमालि नीलमेघः ॥ १४८ ॥

तेरे मुख की शोभा उल्लसित और नयनकमलद्वय प्रफुल्लित हैं; हे आलि ! जगत को जलदपटलमय करनेवाले नीलमेघ [कृष्णचंद्र] को क्या कहीं देखा है ? (कृष्ण को अवलोकन कर मुख में प्रसन्नता के चिह्न प्रगट करनेवाली नायिका के प्रति सखीकी उक्ति है)

आसायं सलिलांतः सवितारमुपास्य सादरं तपसा । अधुनाब्जेन मनाक् तव मानिनि तुलना मुखस्याऽपि ॥ १४९ ॥

हे भामिनी ! सायंकाल से जल में आदरपूर्वक तपस्या से सूर्यनारायणकी उपासना कर अब अर्थात् प्रातःकाल में

---

१ 'मात्यमारा' छन्द ।

कमल ने तेरे मुखकी कुछ तुलना पाई है (तेरा मुख कमल से भी विशेष शोभायमान है यह भाव)

अयि मंदस्मितमधुरं वदनं तन्वंगि यदि मनाक् कुरुषे ॥ अधुनैव कलय शमितं राकारमणस्य हंत साम्राज्यम् ॥ १६० ॥

हे कृशांगि ! यदि (तू) किंचित् (अपने) मुखको मंद मुसुकानि से मधुर करै (तो) चंद्रमाकी शोभा इसी समय शांत हुई जान पडै (तेरा मुख चन्द्रकी शोभाको जीतसकता है यह भाव)

मधुरतरं स्मयमानः स्वस्मिन्नेवालपन्छनैः किमपि ॥ कोकनदयंस्त्रिलोकीमालंबनशून्यमीक्षते क्षीबः ॥ १६१ ॥

मंद मुसुकानेवाला उन्मत्त पुरुष अपनेही मन में धीरे धीरे कुछ कहता है (और) रक्तकमल के समान त्रिलोकी को आलंबनहीन देखता है (मत्तमनुष्य का वर्णन है यह आर्या 'शृंगारविलास' के योग्य तो नहीं जान पडती)

मधुरसान्मधुरं हि तवाधरं तरुणि मद्वदने विनिवेशय । मम गृहाण करेण करांबुजं प प पतामि ह हा भ भ भूतले ॥ १६२ ॥

हे तरुणि ! मधु से अधिक मधुर अपने अधर को मेरे वदन पै स्थापनकर अर्थात् मुझे चुंबन दे और हाथ से मेरे हस्तकमल को पकड (देख) म म मैं, भ भ भूमि पै ग ग गिरता हूं (मद्यपान से मत्त हुए पुरुष की उक्ति है, अपनेही

कर को करकमल कहना और शब्दों का उच्चारण उन्मत्त-ताव्यंजक है)

शतेनोपायानां कथमपि गतःसौधशिखरं सुधा-
फेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने ॥ विबोध्य
क्षामांगीं चकितनयनां स्मेरवदनां सनिःश्वासं
श्लिष्यत्यहह सुकृती राजरमणीम् ॥ १६३ ॥

अनेक उपायोंसे किसी प्रकार राजमंदिरके शिखरके ऊपर प्राप्त होकर, अमृतके फेन समान स्वच्छ पुष्पशय्या पर एकांत स्थलमें सोनेवाली, कृशांगी, चकितनयनी, मंदमसुकानिमुखी, राजरमणिको जागृत करके श्वास परित्याग करते हुए पुण्यवान पुरुष आलिंगन करते हैं (ग्रंथकर्ता पंडितराज ही का तो यह वृत्तांत नहीं ?)

गुंजंति मंजु परितो गत्वा धावंति संमुखम् ॥
आवर्तंते विवर्तंते सरसीषु मधुव्रताः ॥ १६४ ॥

सरोवरिणी में सर्व मधुप मंजु गुंजार करते हैं, सन्मुख जाकर दौडते हैं, आते हैं और जाते भी हैं (इस श्लोक में एक तो शरदृतु का समीपत्व सूचित होता है और दूसरे यौवन को शीघ्रही प्राप्त होनेवाली नायिका के निकट जार पुरुषों का आवगमन भी ध्वनित होता है)

यथा यथा तामरसेक्षणा मया पुनः सरागं नि-
तरां निषेविता । तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो
विकृत्य मामेकरसं चकार सा ॥ १६५ ॥

---

१ 'वंशस्थ' छन्द है ।

ज्यों ज्यों फिर मैंने अनुरागपूर्वक भली भांति कमलनयनी (नायिका) सेई त्यों त्यों उसने ब्रह्मज्ञानकथाके समान मुझे सर्व वस्तुमात्र से आकर्षण कर अर्थात् सबसे मेरा मन हटाय एक (शृंगार) रसमय किया ।

हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते। सेवितं सर्वसंपद्भिरपि तद्भवनं वनम् ॥ १५६ ॥

जहां मृगलोचनी गृहिणी दृष्टिगोचर नहीं वह गृह सर्व संपत्तिसे सेवन किया गया भी वन है ।

लोलालकावलिचलन्नयनारविंदलीलावशंवदितलोकविलोचनायाः । सायाहनि प्रणयिनो भवनं व्रजंत्याश्चेतो न कस्य हरते गतिरंगनायाः ॥१५७॥

चंचल अलकपंक्ति (और) चपल नयनकमलों की लीला से मनुष्यों के नेत्रों को वश करनेवाली, सायंकाल प्रियतमके गृह को गमन करनेवाली कामिनीकी गति किसके मनको नहीं हरण करती

दंतांशुकांतमरविंदरमापहारि सान्द्रामृतं वदनमेणविलोचनायाः । वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेंदुबिंबं दूरीकरोति न कथं विदुषां वरेण्यः ॥१५८॥

ज्ञानीजनों में श्रेष्ठ, ब्रह्मदेव हरिणनयनी (कामिनी) के दंत की किरणों से मनोहर, कमलकी शोभाको हरण करने वाले; अमृतके अनुपमस्थल मुखकी रचना कर चन्द्रबिंबको पुनरुक्त के समान क्यों नहीं दूर करता है ? (एक वार

मृगाक्षीका मुखरूपी चंद्र निर्माण करके इस आकाशस्थ द्वितीय चंद्रमाको, जैसे कविलोग पुनरुक्तिको निकाल डालते हैं, क्यों नहीं दूर करता ? अर्थात् चंद्रमाका काम तो मुख करही रहा है फिर उसके उत्पन्न करने से लाभही क्या ? केवल एक वस्तुकी दूसरी प्रतिमामात्र है)

सानुकंपाः सानुरागाश्चतुराः शीलशीतलाः ॥
हरंति हृदयं हंत कांतायाः स्वांतवृत्तयः ॥ १५९ ॥

कामिनी के अंतःकरण की दयाशील, अनुरागी, चतुर (और) शीलशीतल, वृत्ति मेरे हृदय को हरण करती है।

अलकाः फणिशावतुल्यशीला नयनांता परि-
पुंखितेषु लीलाः ॥ चपलोपमिता खलु स्वयं या
बत लोके सुखसाधनं कथं सा ॥ १६० ॥

(जिसकी) अलकावलि भुजंगशावक के समान स्वभाव वालीहै; (जिसके) नेत्रकटाक्ष सपुंख बाण की लीला (को अनुकरण करनेवाले) हैं; जो स्वयं विद्युल्लता से उपमा दी जाती है हा ! वह (नायिका) इस लोक में किस प्रकार सुखकारक (हो सकती) है ? ।

वदने तव यत्र माधुरी सा हृदि पूर्णा करुणा च
कोमलेऽभूत् ॥ अधुना हरिणाक्षि हा कथं वा
गतिरन्यैव विलोक्यते गुणानाम् ॥ १६१ ॥

हे मृगनयने ! जिस वदन में वह माधुरी, और कोमलहृदय में (वह) पूर्ण करुणा रही[1]; हाय ! अब (वहीं)

---

१ शब्दार्थ भई, हुई ।

गुणोंकी अन्य अर्थात् विपरीत गति कैसे अवलोकन की जाती है ? (प्रथम की दया और वचनों की माधुर्य्यता के स्थानमें अब तूने वाक्कटुता और हियकी कठोरता किस प्रकार अंगीकार की ? यह भाव)

अनिशं नयनाभिरामया रमया संमदिनो मुख-
स्य ते ॥ निशि निःसरदिंदिरं कथं तुलयामः
कलयापि पंकजम् ॥ १६२ ॥

सदैव नेत्रोंको आनंद देनेवाली शोभासे गर्वित तेरे मुख को (एक) कलाकी भी निशा में नाश होती है, सौंदर्य्यता जिसकी ऐसे कमल से, हम किस प्रकार तुलना करैं ?(मुख सदैव शोभायमान रहता है और कमल रात्रिमें मुकुलित होने से शोभाहीन होजाता है इससे दोनोंकी तुलना नहीं होसकती यह भाव । उपमेय मुखसे उपमान कमल में न्यूनता सूचित की उससे 'व्यतिरेक' अलंकार हुआ)

अंगैः सुकुमारतरैः सा कुसुमानां श्रियं हर-
ति ॥ विकलयति कुसुमबाणो बाणालीभिर्मम
प्राणान् ॥ १६३ ॥

(उधर) वह (नायिका अपने) सुकुमारतर अंगोंसे पुष्पों की शोभा को हरण करती है; (इधर) पुष्पबाण[म-न्मथ] शरसमूह से मेरे प्राणों को विकल करता है (पुष्प, मन्मथ के बाण हैं उनकी शोभा कामिनी ने हरन की इससे

---

१ 'वैतालीय' छन्द है ।

काम को उचित था कि उसे दंड देता परंतु वैसा न करके किसी दूसरे ही पुरुष को वह विकल करता है इससे कारज असंगत हुआ अर्थात् जो क्रिया जहां होनी चाहिये थी वहां न होकर अन्य स्थल में हुई। यह 'असंगति' अलंकार है)

खिद्यति सा पथि यान्ती कोमलचरणा नितम्ब-भारेण ॥ खिद्यामि हन्त परितस्तद्रूपविलोकनेन विकलोऽहम् ॥ १६४ ॥

(उधर) मार्ग में गमन करती हुई वह कोमलचरणा (कामिनी) नितंब भार से खेद पाती है और (इधर)आसमंता द्भागमें उसके स्वरूपको अवलोकन करनेसे विकल हुआ हाय! मैं खेदित होता हूं।

मथुरागमनोन्मुखे मुरारावसुभारार्तिभृतां व्रजांग-नानाम् ॥ प्रलयज्वलनायते स्म राका भवना-काशमजायताम्बुराशिः ॥ १६५ ॥

श्रीकृष्णचन्द्र के मथुरा गमनोन्मुख होने से, प्राणरूपी भार के दुःख को धारण करनेवाली व्रजनारिओं को, पौर्णि-माको रात्रि प्रलयकाल के अग्निसमान और गृहप्रदेश समुद्र समान हुआ।

केलीमंदिरमागतस्य शनकैरालीरपास्येंगितैः सुप्तायाः सरुषः सरोरुहदृशः संवीजनं कुर्वतः ॥ जानंत्याप्यनभिज्ञयेव कपटव्यामीलिताक्ष्या सखि श्रांतासीत्यभिधाय वक्षसि तया पाणिर्म-मासंजितः ॥ १६६ ॥

(मुझे) केलिमंदिरमें आया जान, धीरे धीरे सैन से सखियों को दूर करके सोई हुई सरोष कमलनयनीने व्यजन [पंखा] से पवन संचार करनेवाले मुझे जानकरभी अजान की भांति, कपट से अर्थात् झूठमूठ नेत्रों को बंद किए 'हे सखि तू थकगई' ऐसा कहके (अपने) हृदय में मेरे करको स्थापन किया (नायिका ने अपना रोष नायक के द्वारा छुडाना चाहा, इससे सोने का निमित्त लेकर व्यजन करते हुए पति के हस्त को सखी के हस्त के मिष से अपने उरस्थल में लगाया, उधर नायक को भी मान त्याग करने के लिए अधिक विनय करनेका प्रसंग भी न आया और अनायास अपना हाथ कामिनी के उर में जानेसे कुचस्पर्शनका लाभ भी हुआ. तात्पर्य दोनों का मनमाना कार्य हुआ विना प्रयत्न नायिका के उरस्थल का स्पर्श होने से 'प्रहर्षण' अलंकार हुआ)

मांथर्यमाप गमनं सह शैशवेन रक्तं सहैव मनसाऽधरबिंबमासीत् ॥ किंचाभवन्मृगकिशोरदृशो नितंबः सर्वाधिको गुरुरयं सह मन्मथेन ॥१६७॥

बाल्यावस्थाके साथ मृगशावकलोचनी की गमनगति मंद हुई अर्थात् जैसे जैसे शिशुताका धर्म मंद होता गया वैसे वैसे नायिका भी मंदगामिनी होती गई; मन के साथ ही बिंबाधर अरुण वर्णहुए, (रक्तका अर्थ अनुराग और रक्तरंग दोनों होते हैं इससे यह कहा कि ज्यों ज्यों मन अनुरागी

होता गया त्यों त्यों ओष्ठ भी रागी [अरुण] हुए) और मन्मथ [कामदेव] के साथ नितंब सबसे अधिक गरुये हुए अर्थात् जैसे काम बढता गया तैसे नितंब भी पुष्ट होतेगए-

श्वासोऽनुमानवेद्यः शीतान्यंगानि निश्चला दृष्टिः॥
नस्यात् सुभग कथेयं तिष्ठतु तावत्कथांतरं
कथय ॥ १६८ ॥

(स्वयं महान् प्रीति-रखनेवाली परन्तु नायककी अनिच्छित नायिका के विरहजनित दुःखावस्थाका वर्णन कोई उसके प्रीतिपात्र से करता है और कहता है कि वह इतनी कृश हो गई है कि) श्वास चलता है कि नहीं इसका ज्ञान अनुमान से होता है. अंग सब शीतल हो गए हैं दृष्टि निश्चल है (इस प्रकारका वर्णन सुनकर नायकका हृदय द्रवीभूत तो न हुआ किंतु उलटा उसने यह उत्तर दिया कि) हे मित्र ! उसकी इस कथाको रहने दो, और दूसरी वार्त्ता करो (ठीक है "एक तो प्राण देत इक ऊपर एक न जानत पीरा")

पाणौ कृतः पाणिरिलासुतायाः सस्वेदकंपो रघुनंदनेन ॥ हिमाम्बुसंगानिलविह्वलस्य प्रभातपद्मस्य बभार शोभाम् ॥ १६९ ॥

रामचंद्रजी के द्वारा ग्रहण किये जानेसे जानकीजीका स्वेद युक्त कंपित हस्त, तुषारकण से मिश्रित पवनसे विह्वल किये गए प्रातःकाल के कमलकी शोभाको प्राप्त हुआ (हिमर्तुमें वायु संचार से प्रभात समय कमल की जैसी

विह्वल दशा होजाती है वैसीही सीताजी के हस्त की हुई यह भाव)

अरुणमपि विद्रुमद्रुं मृदुलतरं चापि किसलयं बाले ॥ अधरीकरोति नितरां तवाधरो मधुरिमातिशयात् ॥ १७० ॥

हे बाले ! माधुर्य्यधिक्य से तेरा अधर अरुण रंगके विद्रुमद्रुम और मृदुलतर नूतन पत्रकोभी अत्यन्त नीच दशाको प्राप्त करताहै (विद्रुममें अरुणता है परंतु माधुर्य्य और कोमलता दोनों नहीं, और किसलयमें अरुणता और मृदुलता है परन्तु मधुरता नहीं इस लिए कामिनीका ओष्ठ अरुणता, कोमलता और माधुर्य्य इन तीनों गुणोंसे पूर्ण होनेके कारण श्रेष्ठ हुआ)

सुदृशो जितरत्नजालया सुरतांतश्रमबिंदुमालया ॥ अलिकेन च हेमकांतिना विदधे काऽपि रुचिः परस्परम् ॥ १७१ ॥

सुलोचनी (नायिका) की, सुरत के अंत में उत्पन्न हुई रत्नजाल को जीतने वाली श्रमकणों की माला और सुवर्णवर्ण ललाट, परस्पर विचित्र शोभा देते हैं (एकाकी शोभा दूसरे से कहा इससे 'अन्योन्य' अलंकार हुआ)

परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिभीता हृदयं प्रियस्य सीता ॥ अविशत् परकामिनीभुजंगी भयतः सत्वरमेव सोऽपि तस्योः ॥ १७२ ॥

---

१ 'वैनालीय' छंद । २ 'माल्यभारा' छंद ।

परपुरुष के दृष्टिपातरूपी वज्रप्रहार के भय से सीता ने प्रिय [रामचन्द्र] जी के हृदय में प्रवेश किया; (और)पर-स्त्रीरूपी भुजंगी [सर्पिणी] के भय से उस [रामचंद्र] ने भी (सीताजी के हृदय में) शीघ्रही प्रस्थान किया—(यह भी 'अन्योन्य' अलंकार है ।)

अंगानि दत्त्वा हेमांगि प्राणान् क्रीणासि चेन्नृणाम्॥
युक्तमेतन्न तु पुनः कोणं नयनपद्मयोः ॥ १७३ ॥

हे हेमांगि ! अंगों को देकर मनुष्योंके प्राण तू जो मोल लेती है सो उचित है परंतु फिर कमलनयनों के कटाक्ष (उनके प्राण का क्रय करना योग्य) नहीं (नयनपद्मकोण अर्थात् अल्प कटाक्ष देकर अमूल्य प्राण लेती है; तात्पर्य यह कि देती तो थोड़ा परंतु लेती बहुत है । इस श्लोकमें 'परिवृत्ति' अलंकार है)

जितरत्नरुचां सदा रदानां सहवासेन परां मुदं ददानाम् ॥ विरसादधरीकरोति नासामधुना साहसशालि मौक्तिकं ते ॥ १७४ ॥

(हे नायिके !) रत्नों की कांतिको जीतनेवाले दंतोंके सदा सहवासके कारण, अत्यन्त आनन्द देनेवाली नासिका को, द्वेषभावसे, तेरा साहस शालि (नासा-)मौक्तिक इस समय नीचदशाको प्राप्त करता है (रत्न जो मौक्तिकके सजातीय हैं उन्हें दन्तोंने अपनी कांति से परास्त किया और इन्हींदंतोंकी निकटवर्ती नासिकाभी है इससे मौक्तिकको क्रोध हुआ और

नासिकाभरण बनके उसके छेदन किए जानेका कारण हुआ यह भाव । नासा के अधोभागमें लटकने से दंतोंके ऊपर मौक्तिक आजाता है इससे यदि ऐसा भी कहें कि दंतोंके ऊपर पादप्रहार करके, उसने अपने सजातियोंका पलटा लिया तो क्या अनुचित है ?)

विलसत्याननं तस्या नासाग्रस्थितमौक्तिकम् ॥
आलक्षितबुधाश्लेषं राकेंदोरिव मंडलम् ॥१७५॥

नासिकाके अग्रभागमें है मौक्तिक जिसमें ऐसा उस (नायिका)का मुख, बुध नामक ग्रहसे आलिंगित अवलोकन किएगए पौर्णिमा संबंधीय चंद्रमंडलके समान शोभायमान है।

निभाल्य भूयो निजगौरिमाणं मा नाम मानं
सहसैव यासीः ॥ गृहे गृहे पश्य तवांगवर्णा मुग्धे
सुवर्णावलयो लुठंति ॥ १७६ ॥

हे मुग्धे ! अपनी गौरिमा [गौरवर्ण] को देख सहसा गर्व न कर, देख तेरे अंगके वर्ण समान सुवर्ण के आभरण घर घरमें लोटते हैं (अंगवर्ण उपमेयको सुवर्ण उपमानसे आदर न होनेसे 'प्रतीप' अलंकार हुआ)

करिकुंभतुलामुरोजयोः क्रियमाणां कविभि-
र्विशृंखलैः ॥ कथमालि शृणोषि सादरं विप-
रीतार्थविदो हि योषितः ॥ १७७ ॥

निरंकुश कवियों के द्वारा कहीगई गजगंडस्थलसे कुचद्वयोंके तुलनाकी कथा; हे आलि ! तू सादर सुनती है, ठीक

---

१ 'उपजाति' छन्द ।

है, स्त्रियां विपरीत अर्थ जाननेवाली होती है (गजगंडस्थल अत्यंत उत्तुंग होनेके कारण यदि उनसे कुचोंकी उपमा दी-गई तो यह सूचित हुआ कि नायिका प्रगल्भादशाको प्राप्त होगई अर्थात् यौवन कालका अपगम समय निकट आया इस श्लोकमें नायिका से सखी यह कहती है कि तू अभी उस अवस्थाको नहीं पहुँची अर्थात् अभी मुग्धाही है तस्मात 'करिकुंभ' की उपमा तेरे विषयमें अयोग्य है इसमें 'अर्थान्-तरन्यास' और 'प्रतीप' अलंकारका संकर है)

परिष्वजन् रोषवशात् तिरस्कृतः प्रियो मृगा-
क्ष्या शयितः पराङ्मुखः॥किं दुखितोऽसाविति
कांदिशीकया कदाचिदाचुम्ब्य चिराय सस्वजे॥१७८

आलिंगन करनेमें रोष से तिरस्कार कियागया (और इसी कारण) पराङ्मुख [पीठ देकर] सोया हुआ प्रियतम क्या दुःखित है ? इस प्रकार मन में अनुमान कर भयभीत हुई मृगनयनी (नायिका) ने अनायास (नायकको) चुंबन करके चिरकाल पर्य्यन्त हृदय से लगाया । (विना प्रयत्न आलिंगन का इच्छित लाभ होने से 'प्रहर्षण' अलंकार हुआ)

चेलांचलेनाननशीतरश्मिं संवृण्वतीनां हरिदृश्व-
रीणाम् ॥ व्रजांगनानां स्मरजातकंपादकाण्ड-
संपातमियाय नीवी ॥ १७९ ॥

वस्त्रांचलसे मुखचन्द्रको छिपानेवाली (और) श्रीकृष्णकी ओर अवलोकन करनेवाली व्रजनारियोंकी नीवी [कटिपट

बंधन,] कामाधिक्यसे उत्पन्न हुई कंपके कारण, अकस्मात् खुल गई (लज्जासे इधर मुखच्छादन करना चाहा उधर नीवी खुलगई अर्थात् इच्छाके प्रतिकूल कार्य हुआ इस हेतु इस श्लोकमें 'विषाद' अलंकार जानना)

अधरेण समागमाद्रदानामरुणिम्ना पिहितोऽपि शुक्लभावः ॥ हसितेन सितेन पक्ष्मलाक्ष्याः पुनरुल्लासमवाप जातपक्षः ॥ १८० ॥

सुलोचनी (नायिका) के दशनोंका शुक्लभाव, अधरोंके समागमसे अरुणताच्छादित भी, शुभ्रहास्य की सहायतासे फिर उल्लासको प्राप्त हुआ (निज शुक्लधर्मको परित्याग संगति के धर्मको ग्रहण करनेसे ' तद्गुण' अलंकार हुआ)

सरसिरुहोदरसुरभावधरितबिंबाधरे मृगाक्षि तव ॥ वद वदने मणिरदने तांबूलं केन लक्षयेम वयम् ॥ १८१ ॥

हे मृगलोचनि ! कमलांतर्गत सौरभके समान सुगंधवाले बिंबाफलको तिरस्कार करनेवाले अधर और मणिवत् दशन धारण करनेवाले तेरे मुखमें तांबूलको हम किस प्रकार जान सकते हैं ? (नायिकाके मुखमें तांबूलजनित अरुणता न देख नायकने प्रश्न किया, उत्तरमें नायिकाने कहा कि मैंने तांबूल खाया है, परंतु कोई तांबूल लक्षण वदनमें न पानेसे नायक कहता है कि तांबूलसे अधरमें अरुणता आती है परंतु तेरे अधर तो सदैवही अरुण रहते हैं, तांबूल खानेसे मुख

सुगंधित होता है परंतु तेरा वदन तो स्वभावहीसे सुगंधित है तांबूलसे दंत लाल हो जाते हैं परंतु तेरे दंत मणिमय हैं इससे उनका अरुण होना संभवही नहीं;अतएव भला फिर हम कैसे जाने कि तूने सत्यही तांबूल खाया है ? मुख और तांबूलके गुणकी सादृश्यता करनेसे 'मीलित' अलंकार हुआ)

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफली कर्तुमहो मनोरथान् ॥ दयिता दयिताननांबुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥ १८२ ॥

नायक के समीप ही सोई हुई समर्थहीना कामिनी, मनोरथ सुफल करने के लिए, किंचित् नेत्रों को मुकुलित करती हुई, पतिके मुखारविंद को देखती है (लज्जासे नयन भली भाँति नहीं खोलती और पति की ओर धीरे धीरे अवलोकन करके संभोगेच्छा प्रकट करती है इससे 'मध्या' नायिका जानना)

वदनारविंदसौरभलोभादिंदिंदिरेषु निपतत्सु ॥ मय्यधरार्थिनि सुदृशो दृशो जयंत्यतिरुषा परुषाः ॥ १८३ ॥

इति श्रीमत्पंडितराजजगन्नाथविरचिते भामिनीविलासे शृङ्गारो नाम द्वितीयो विलासः॥२॥

मुखारविन्दकी सौरभके लोभसे भ्रमरोंके (ओष्ठों पै) गिरते मुझ अधरकी याचना करनेवाले अर्थात् चुम्बनार्थी पै, रोषसे कुटिल हुए सुलोचनीके कटाक्ष जय पावैं ! (एक

तो मुखके सुगंधके लोभी भ्रमर ही कष्ट दे रहे थे तिसपै नायकने अधरचुंबन चाहा फिर भला नायिकाकी दृष्टि वक्र क्यों न होवे ? परतु कामुकोंको इस प्रकारकी परुष विलोकनभी सुखदात्री होती है इसी से नायक उस चितवनिका भी उत्कर्ष चाहता है । 'जयंति' शब्द से कविने, द्वितीय विलास के अलंकार किया)

भामिनीविलास के शृंगार नामक द्वितीय विलास का प्राकृत भाषानुवाद समाप्त हुआ ॥

अथ भामिनीविलासे

तृतीयः करुणाविलासः ।

दैवे पराग्वदनशालिनि हंत जाते याते च संप्रति दिवं प्रति बंधुरत्ने ॥ कस्मै मनः कथयितासि निजामवस्थां कः शीतलैः शमयिता वचनैस्तवाधिम् ॥ १ ॥

इस समय दैवके पराङ्मुख (विमुख) होने और बन्धुवर्गों के स्वर्गलोक जाने से हाय हे मन ! (अब तू) अपनी अवस्था (का वर्णन) किससे) करेगा और शीतल वचनोंसे तेरे दुःखको कौन शांत करैगा ?

प्रत्युद्गता सविनयं सहसा पुरेव स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकैः॥मामद्य मंजुरचनैर्वचनैश्च बाले हा लेशतोऽपि न कथं शिशिरीकरोषि ॥२॥

---

१ 'वसंततिलका' छंद ।

हे बाले ! मदनकी सहायता करनेवाली मंद मुसुकानि और रसभरी चितवनिसे विनय पूर्वक (जो, तू मुझे) पहिले प्राप्त हुई; (सो, वही) आज, मधुर वचनोंकी रचनासे हाय मुझे किंचित् भी क्यों नहीं शीतल करती ?

सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता विद्याऽपि खेदकलिता विमुखीबभूव ॥ सा केवलं हरिणशावकलोचना मे नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ॥ ३ ॥

सर्व विषयभी भूल गए (और) खेदयुक्त (मेरी) विद्या भी विमुखी हुई अर्थात् उसका भी विस्मरण हुआ (परंतु) इष्टदेवता के समान केवल वह मृगशावक लोचनी (कामिनी) मेरे हृदयसे दूर नहीं होती ।

निर्वाणमंगलपदं त्वरया विशंत्या मुक्ता दयावति दयाऽपि किल त्वयाऽसौ ॥ यन्मां न भामिनि निभालयसि प्रभातनीलारविंदमदभंगिमदैः कटाक्षैः ॥ ४ ॥

हे दयावति भामिनी ! मोक्षपदको शीघ्रही गमन करने वाली तू ने यह (अपनी) दया भी त्यागी, जो (तू,) प्रातःकालके नीलमकलके मदको भंग करतेवाले कटाक्षोंसे मेरी ओर देखती (भी) नहीं ।

धृत्वा पदस्खलनभीतिवशात् करं मे या रूढः वत्यसि शिलाशकलं विवाहे ॥ सा मां विहाय

कथमद्य विलासिनि द्यमारोहसीति हृदयं शतधा प्रयाति ॥ ५ ॥

हे विलासिनी ! पदस्खलन भय से मेरे हस्तका अवलंबन कर विवाह कालमें जो पाषाणशिला पै चढी उसने आज मुझे त्याग, स्वर्गको किस प्रकार आरोहण किया (ऐसे विचार हाय मेरे) हृदयको शतधा (विदीर्ण) करते हैं,

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा सालंकृतिः श्रवणमंगलवर्णराजिः ॥ सा मामकीनकवितेव मनोऽभिरामा रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति ॥ ६ ॥

निर्दोष, गुणवती, रसभावपूर्ण अलंकारयुक्त, कोमल अक्षरवाली मेरी कविताके समान, (दुराचारादि) दोषरहित (गृहिणी) गुणसम्पन्न, (शृंगाररसानुयायि)हावभावपरिपूर्ण अंगाभरणसहित, कर्णानंददायक भाषण करनेवाली वह मनमोहिनी कामिनी कदापि मेरे हृदय से दूर नहीं जाती।

चिंता शशाम सकलाऽपि सरोरुहाणामिंदोश्च बिंबमसमां सुषमामयासीत् ॥ अभ्युद्गतः कलकलः किल कोकिलानां प्राणप्रिये यदवधि त्व मितो गताऽसि ॥ ७ ॥

हे प्राणप्रिये ! ज्योंहीं तू इस लोकसे गई (त्योंही) कमलों की समस्त चिंता शांत हुई, चन्द्रबिंब महान शोभा को प्राप्त हुआ, (और) कोकिलाओंका कलकल शब्द प्रकट

हुआ (जब तक तू वर्तमानथी तब तक तेरी कोमलता देख कमल चिंतामें निमग्न थे कि तेरे अंग उनसे भी अधिक कोमल हैं, चन्द्रमा अपनेको तेरे सन्मुख तुच्छ समझता था और तेरी वीणासदृशवाणीको श्रवण कर कोकिलाओंने शब्दही करना बंद कर दियाथा; परंतु तुझे स्वर्ग सिधारी जान अब उन सबको हर्ष प्राप्त हुआ है यह भाव)

सौदामिनीविलसितप्रतिमानकांडे दत्त्वा कियंत्यपि दिनानि महेन्द्रभोगान् ॥ मंत्रोज्झितस्य नृपतेरिव राज्यलक्ष्मीर्भाग्यच्युतस्य करतो मम निर्गताऽसि ॥ ८ ॥

सौदामिनी के विलास समान अर्थात् क्षणमात्र ही रहनेवाले, सुरेन्द्र के सेवन योग्य, महान भोगों को कुछ दिन पर्य्यन्त देकर (अकस्मात्) अकाल ही में, मुझ भाग्यहीन के हस्त से मंत्रहीन अर्थात् राजधर्मविहीन राजा की राज्य लक्ष्मी के समान (तू) निकल गई ।

केनापि मे विलसितेन समुद्गतस्य कोपस्य किं नु करभोरु वशंवदाऽभूः ॥ यन्मां विहाय सहसैव पतिव्रताऽपि याताऽसि मुक्तिरमणीसदनं विदूरम् ॥ ९ ॥

हे करभोरु[1] ! क्या तू मेरे किसी अयोग्य विलास से उत्पन्नहुए कोप के वश होगई, जो पतिव्रता होकर भी मुझे सहसा त्याग मुक्तिरूपी रमणी के दूरवर्ती गृह को चली गई

१ हस्तीके शुंडके समान है जंघा जिसकी ऐसी ।

(पतिव्रता स्त्री पति के घर के बाहर पद भी नहीं धरतीं फिर तू दूरस्थ मुक्तिपदस्थल को कैसे गई यह भाव)

काव्यात्मना मनसि पर्यणमन् पुरा मे पीयूष-सारसरसास्तव ये विलासाः ॥ तानंतरेण रमणी रमणीयशीले चेतोहरा सुकविता भविता कथं नः ॥ १० ॥

हे सुशीले ! अमृतरस से भी सरस जो तेरे विलास प्रथम काव्यरूप होकर मेरे मनमें प्रवेश करते थे उनके विना (अब) मेरी कविता, मनोहारिणी (और) रमणीय कैसे होवेगी ? (तेरे हाव, भाव, चेष्टाओंको देख मैं काव्य में उनका वर्णन करताथा जिस से श्लोक सरस और प्रशंसनीय होते थे परंतु अब तेरे न रहने से मेरी कविता में उन गुणोंका होना संभव नहीं यह भाव)

या तावकीनमधुरस्मितकांतिकांते भूमंडले विफलतां कविषु व्यतानीत् ॥ सा कातराक्षि विलयं त्वयि यातवत्यां राकाऽधुना वहति वैभवमिंदिरायाः ॥ ११ ॥

हे चपलनयने ! तेरी मधुर मुसुकानिकी कांतिसे शोभायमान भूमंडलमें जो पौर्णिमा कवियोंके विषयमें निष्फलताको प्राप्त होती भई, वह तेरे स्वर्गवासिनी होने से अब लक्ष्मीके वैभवको धारण करती है; (पौर्णिमाका शुभ्रत्व प्रशंसनीय है परंतु तेरी स्मित उससे भी शुभ्र होने के कारण कविजन

शुभ्रताके प्रसंग में उसीका वर्णन करतेथे, पौर्णिमाका नहीं परंतु अब तू नहीं रही, इससे पौर्णिमा अत्यानंदित हो महान वैभवको प्राप्त हुई है यह भाव)

मंदस्मितेन सुधया परिषिच्य या मां नेत्रोत्पलै-
र्विकसितैरनिशं समीजे ॥ सा नित्यमंगलमयी
गृहदेवता मे कामेश्वरी हृदयतो दयिता न याति१२

सुधारूपी मंदमुसुकानि से सींच जिसने नेत्ररूपी विकसित कमलों से मेरा निरंतर पूजन किया वह नित्यमंगल कारिणी गृहदेवता, सर्वकामपूर्णकर्त्री, कामिनी मेरे हृदयसे नहीं जाती।

भूमौ स्थिता रमण नाथ मनोहरेति संबोधनै-
र्यमधिरोपितवत्यसि द्याम् ॥ स्वर्गं गता कथ-
मिव क्षिपसि त्वमेणशावाक्षि तं धरणिधूलिषु
मामिदानीम् ॥ १३ ॥

हे मृगशावकलोचने ! भूतल में स्थित रहते 'हे रमण' 'हे नाथ,' 'हे मनोहर', इस प्रकार के संबोधनों से जिसे (तूने) सुरलोक पै आरोहण कराया अर्थात् अमरावती के तुल्य सुख दिया, उसी मुझ को अब (तू) स्वर्ग में जाय धरणीतल धूलि में किस प्रकार डालती है ।

लावण्यमुज्ज्वलमपास्ततुलं च शीलं लोकोत्तरं
विनयमर्थमयं नयं च ॥ एतान् गुणानशरणा-
नथ मां च हित्वा हा हंत सुन्दरि कथं त्रिदिवं
गताऽसि ॥ १४ ॥

हे सुन्दरि ! उज्ज्वल लावण्य, अतुल शील, लोकोत्तरविनय' अर्थपूरित नीति, इन शरणहीन गुणों को और मुझको (भी) छोड हाय ! (तू) किस प्रकार स्वर्गलोक को गई ? (उपरोक्त सर्व गुण तुझमें थे; परंतु अब तेरे न रहने से वेअनाथ हो गए, कारण; उनकी शरणदात्री एक तूही थी यह भाव)

कांत्या सुवर्णवरया परया च शुद्ध्या नित्यं स्विकाः खलु शिखाः परितः क्षिपंतीम् ॥ चेतोहरामपि कुशेशयलोचने त्वां जानामि कोपकलुषो दहनो ददाह ॥ १५ ॥

हे कमलनयने ! श्रेष्ठ सुवर्णके समान(तेरी) कांति और परम शुद्धिसे, अपनी शिखा सर्व ओर पराभवित (देख,)तुझ मनोहारिणीको भी, मेरे जान अग्निने क्रोधित होकर दहन किया (तेरी कांति और शुद्धि अपनी ज्वालासे भी अधिक देखअग्निको रोष उत्पन्न हुआ इसीसे उसने तुझे दग्ध किया यह भाव)

कर्पूरवर्तिरिव लोचनतापहंत्री फुल्लांबुजस्रगिव कंठसुखैकहेतुः ॥ चेतश्चमत्कृतिपदं कवितेव रम्या नम्या नरीभिरमरीव हि सा विरेजे ॥१६॥

कर्पूर की वर्तिका [बत्ती] के समान नेत्रोंके तापको हरण करनेवाली प्रफुल्लित कमलमाला तुल्य कंठको सुख देनेवाली चित्त में चमत्कार उत्पन्न करनेवाली कविता के सदृश रमणीय, वह नतगात्री नायिका) स्त्रियों में देवांगना के समान शोभायमान थी ।

स्वप्नांतरेऽपि खलु भामिनि पत्युरन्यं या दृष्ट-
वत्यसि न कंचन साभिलाषम् ॥ सा संप्रति
प्रचलिताऽसि गुणैर्विहीनं प्राप्तं कथं कथय हंत
परं पुमांसम् ॥ १७ ॥

हे भामिनी ! जिस (तू) ने; स्वप्न में भी किसी अन्यप-
ति को अभिलाष सहित न अवलोकन किया. सो(वही)अब
गुणहीन पर पुरुषको प्राप्त होनेके लिए कैसे गई ?(यह तूही)
कह ("गुणैर्विहीनं" और "परं पुमांसम्" में श्लेष है,
गुणविहीन पर पुरुष और निर्गुण परब्रह्म दोनों अर्थ व्यंजक हैं)

दयितस्य गुणाननुस्मरंती शयने संप्रति या
विलोकिताऽऽसीत् ॥ अधुना किल हंत सा कृ-
शांगी गिरमंगीकुरुते न भाषिताऽपि ॥ १८ ॥

प्राणत्याग समय सेज पर जो प्रियतमके गुणोंका स्मरण
करती हुई देखीगई हाय ! अब वही कृशाङ्गी भाषण करनेसे
भी नहीं बोलती !

रीतिं गिराममृतवृष्टिकरीं तदीयां तां चाकृतिं
कविवरैरभिनंदनीयाम् ॥ लोकोत्तरामथ कृतिं
करुणारसार्द्रां स्तोतुं न कस्य समुदेति मनः
प्रसादः ॥ १९ ॥

इति श्रीमत्पंडितराजजगन्नाथविरचिते भामिनी-
विलासे करुणा नाम तृतीयो विलासः ॥ ३ ॥

---

१ 'माल्यभारा' छन्द है ।

अमृत वृष्टि करनेवाली उसकी वाणीकी रीतिका, कविवरोंसे अभिनंदित उसकी आकृतिका, करुणारसार्द्र उसकी परमोत्तम कृतिका स्तवन करनेको किसका चित्त नहीं आनंदित होता?

भामिनी विलासके करुणा नाम तृतीय विलासका
प्राकृत भाषानुवाद समाप्त हुआ ।

अथ भामिनीविलासे ।

चतुर्थः शांतो विलासः ।

विशालविषयाटवीवलयलग्नदावानलप्रसृत्वरशि-
खावलीविकलितं मदीयं मनः । अमंदमिल-
दिंदरे निखिलमाधुरीमंदिरे मुकुन्दमुखचंदिरे
चिर मिदं चकोरायताम् ॥ १ ॥

विशाल विषयरूपी वनमंडलमें लगेहुए दावानलकी प्रसार पानेवाली ज्वाला की पंक्तियों से विकलित, यह मेरा मन, परम शोभायमान (और) अखिल माधुर्यता के मंदिर श्रीकृष्ण भगवान् के मुखरूपी चंद्रमा में, चिरकाल पर्य्यन्त चकोर के धर्मका आचरण करै ।

अये जलधिनंदिनीनयननीरजालंबन ज्वलज्ज्व-
लनजित्वरज्वरभरत्वराभंगुरम्॥ प्रभातजलजोन्न-
मद्गरिमगर्वसर्वंकषैर्जगत्त्रितयरोचनैः शिशिरयाशु
मां लोचनैः ॥ २ ॥

---

१ 'पृथ्वी' छंद है ।

हे लक्ष्मीनयनकमलाश्रय ! [भगवन्--नारायण] प्रातः-काल कमलके महान गर्वको हरण करनेवाले (अर्थात् कमलसे भी विशेष शोभायमान) और त्रैलोक्यको आनंद देनेवाले अपने नयनोंसे, प्रज्वलित अग्निको जीतनेवाले ज्वरके भारसे मुझ भंगशीलको शीघ्र शीतल करो ।

स्मृताऽपि तरुणातपं करुणया हरंती नृणाम-
भंगुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ॥ कलिं-
दगिरिनंदिनीतटसुरद्रुमालंबिनी मदीयमतिचुं-
बिनी भवतु काऽपि कादंबिनी ॥ ३ ॥

मनुष्यों के स्मरणमात्र के करतेही करुणा से प्रचंड ताप को हरण करनेवाली, अक्षय है अंग की कांति जिनकी ऐसी अनेक विद्युल्लताओं से वेष्टित, यमुनातट के श्रेष्ठ वृक्षोंका आलंबन करनेवाली, विचित्र मेघमाला, मेरी बुद्धि का विषय होवै (मेरा मन इस मेघमाला का ध्यान किया करै यह भाव) इस श्लोक में मेघमाला को कृष्णमूर्तिमान उसकी आधिक्यता दिखाई है:--मेघमाला के जल देने से सूर्य का आतप शांत होता है परन्तु कृष्णमूर्तिरूपी मेघमाला के स्मरण मात्र से ताप नष्ट होते हैं; मेघमाला के विद्युल्लताओं की कांति भंगशील है परन्तु कृष्णचन्द्र के अंग की कांति सदैव स्थिर है; मेघमाला आकाशका आश्रय लेती है, कृष्णमूर्ति यमुना-कूल के परम पावन कदंबादि तरुवरों का अवलंब करती है।

कलिंदगिरिनंदिनीतटवनांतरं भासयन् सदा पथि गतागतश्रमभरं हरन् प्राणिनाम् ॥ लतावलिशतावृतो मधुरया रुचा संभृतो ममाशु हरतु श्रमानतितरां तमालद्रुमः ॥ ४ ॥

यमुनाकूलके उपवनमें प्रकाशवान मनुष्योंके, मार्गसंभूत गतागत श्रम भारको हरनेमें (सदैव) समर्थ, अनेक लताओं से आच्छादित मनोहर कांति संयुक्त तमाल तरुवर मेरे महान परिश्रमको शीघ्रही हरण करै (इसमें तमाल वृक्षकी कृष्णसे साम्यता की हैः—यमुनाके वनांतरो में दोनों [कृष्ण—तमालद्रुम] दीप्तिमान हैं, तमाल पथिकोंके मार्गजनित श्रमको दूर करता है,कृष्ण प्राणियोंके जन्म मरणको नाश करते हैं, तमालको लताओंने आवृत किया है, कृष्णचन्द्रको गोपकन्याओंने, कांतिमान दोनों ही हैं)

जगज्जालं ज्योत्स्नामयनवसुधाभिर्जटिलयञ्जनानां संतापं त्रिविधमपि सद्यः प्रशमयन्॥श्रितो वृंदारण्यं नतनिखिलवृंदारकवृतो मम स्वांतर्ध्वांतं निरयतु नवीनो जलधरः ॥ ५ ॥

चन्द्रिकारूपी नूतन अमृतसे संसारको परिपूर्ण करनेवाला मनुष्योंके त्रिविध संतापको शीघ्रही शांत करनेवाला, वृंदावनवासी; (मस्तक) नम्रकिएहुए अखिल देवगणोंसे युक्त,नूतनमेघरूपी श्रीकृष्ण भगवान् मेरे अंतःकरणके अंधकारको नाश करैं

ग्रीष्मचंडकरमंडलभीष्मज्वालसंसरणतापित·
मूर्तेः ॥ प्रावृषेण्य इव वारिधरो मे वेदनां हरतु
वृष्णिवरेण्यः ॥ ६ ॥

यादवश्रेष्ठ श्री कृष्ण भगवान्, वर्षा ऋतु सम्बन्धी मेघवत् गीष्मर्तु के सूर्य मंडल की अत्युग्र ज्वाल समान संसारजनित ताप से मुझ संतप्त हुए की वेदना हरण करै ।

अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ मम भ्रामं
भ्रामं विगलितविरामं जडमतेः ॥ परिश्रांत-
स्यायं तरणितनयातीरनिलयः समंतात्संतापं
हरिनवतमालस्तिरयतु ॥ ७ ॥

इस अपार संसारके विषम विषयरूपी अरण्यमार्गमें परिभ्रमण करनेवाले, विश्रामहीन,जडबुद्धि, मुझ श्रमितके समस्त संताप, कृष्ण स्वरूप सदृश यमुना तीरका यह तमालवृक्ष नाश करै ।

आलिंगितो जलधिकन्यकया सलीलं लग्नः
प्रियंगुलतयेव तरूस्तमालः ॥ देहावसानसमये
हृदये मदीये देवश्चकास्तु भगवानरविंदनाभः ॥८॥

जैसे तमालवृक्ष से प्रियंगुलता लग्न होजाती है वैसेही प्रेमपूर्वक जलधिकन्या [लक्ष्मी] से आलिंगन कियागया भगवान् कमलनाभ नारायण प्राणप्रयाण के समय मेरे हृदय में प्रकाश करै ।

---

१ 'स्वगता' छन्द है ।

नयनानंदसंदोहतुंदिलीकरणक्षमा ॥ तिरयत्वा
शु संतापं कापि कादंबिनी मम ॥ ९ ॥

नेत्रों के आनंदसमूह को अधिकाधिक बढानेमें समर्थ मेघमालारूपी अनिर्वचनीय कृष्णमूर्ति मेरे संताप को शीघ्रही नाश करै ।

वाचा निर्मलया सुधामधुरया यां नाथ शिक्षाम-
दास्तां स्वप्नेपि न संस्मराम्यहमहंभावावृतो नि-
स्त्रपः ॥ इत्यागःशतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु
मां बिभ्रतस्त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो
न मत्तोऽपरः ॥ १० ॥

हे नाथ ! सुधा के समान मधुर और निर्मल (श्रुतिरूपी) वाणी से (तूने) जो शिक्षा दी, उसे, मैं निर्लज्ज और अहंकारयुक्त होतसाता स्वप्न में भी स्मरण नहीं करता, ऐसे अनेक अपराध करनेवाले मुझे फिर भी तू अपने जनों(कीगिनती)में गिनता है, तस्मात् हे यदुपते ! तुझसे (अधिक दूसरा)दयालु नहीं (और) मुझसे (अधिक दूसरा) उन्मत्त नहीं है ।

पातालं व्रज याहि वा सुरपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरंपरां तर तथाप्याशा न शांतास्तव ॥
आधिव्याधिपराहतो यदि सदा क्षेमं निजं
वांछसि श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे शून्यैः
किमन्यैः श्रमैः ॥ ११ ॥

पाताल में प्रवेश कर, वा इन्द्र लोकको प्राप्त हो, वा सुमेरु पै आरोहण कर, वा सप्तसमुद्रके पार जा, परन्तु मेरी आशा शांत नहीं, (इससे) आधिव्याधिसे पराहतहुए (हे मन !) यदि तू सदाके लिए अपनी कुशल चाहता है तो श्रीकृष्णरूपी रसायनको सेवन कर वृथा अन्य परिश्रममें कुछ अर्थ नहीं ।

गणिकाजामिलमुख्यानवता भवता बताहमपि ॥
सीदन्भवमरुगर्ते करुणामूर्ते न सर्वथोपेक्ष्यः ॥१२॥

हे करुणामूर्ते भगवन् ! गणिका और अजामिलादिक (महान् पातकियों) को उद्धार करनेवाले तुझे, संसाररूपी मरुस्थली में व्याकुल हुआ, हाय ! जो मैं उसकी सर्वथा उपेक्षा करनी योग्य नहीं ।

विदित्वेदं दृश्यं विषमरिपुदुष्टं नयनयोर्विधायां-
तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान् ॥ विधूतां-
तर्ध्वान्तो मधुरमधुरायां चिति कदा निमग्नः
स्यां कस्यांचन एवनभस्यांबुदरुचौ ॥ १३ ॥

इस संसारको विषमशत्रुवत् दुष्ट जान, नेत्रों की मुद्रा को अंतःकरण में स्थापित कर, और (समस्त) विषयों को शीघ्र ही त्याग, अज्ञानान्धकारविगत होतसाता नवीनमेघ-तुल्यकांतिवाली (श्रीकृष्ण की) अत्यंत मधुर व अवर्णनीय चैतन्यता में कब निमग्न होऊंगा ?

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रंभाधरः खंडितः ॥ सत्यंब्रूहि मदीय जीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः ॥ १४ ॥

हे मम जीव ! पुनः पुनः संसारमें भ्रमण करके तूने द्राक्षा का स्वाद लिया, शर्करा खाई, उत्तम दुग्ध पिया, स्वर्गमें सुधा का भी आस्वादन किया, अनेक वार देवांगनाधर खंडित किये परंतु सत्य कहना, "कृष्ण" इन अक्षरोंका सा मधुर उद्गार कहीं देखा ? अर्थात् कहीं नहीं।

वज्रं पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशु बिंबोदयः ॥ क्रूरक्लेशमहीरुहामुरुतरज्वालाजटालः शिखी द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम् ॥ १५ ॥

पापपर्वतको वज्र, संसारसम्बन्धी महान रोगकी सिद्ध औषध, मिथ्याज्ञानरूपी रात्रि के विशाल अंधकारको सूर्यबिंबोदय, प्रचंड क्लेशरूपी वृक्षको अत्युग्र ज्वालासे प्रज्वलित अग्नि, मोक्षमंदिरका द्वार 'कृष्ण' ऐसे ये वर्णद्वय विजय पावैं।

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन् वृंदं कोऽपि गवां नवांबुदनिभो बंधुर्न कार्यस्त्वया ॥ सौंदर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य

मंदस्मितैरेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति ॥ १६ ॥

रे मन ! यह मैं तेरे हितकी कहता हूं वृन्दावन में गोवृन्दों को चरानेवाले नूतनमेघवर्ण (श्रीकृष्ण) को तू स्नेही कर वह सौन्दर्य्यामृतको आसमंताद्भागमें बरसानेवाली (अपनी) मंदमुसुकानिसे, तुझे मोहित करके तेरी प्रिय विषयवासनाओं को शीघ्रही नाश करैगा ।

अव्याख्येयां वितरति परां प्रीतिमंतर्निमग्ना
कंठे लग्ना हरति नितरां यांतरध्वांतजालम् ॥
तां द्राक्षाद्यैरपि बहुमतां माधुरीमुद्गिरंतीं कृष्णे-
त्याख्यां कथय रसने यद्यसि त्वं रसज्ञां ॥१७॥

हे जिह्वे ! यदि तू रसज्ञा [रस को जाननेवाली] है तो हृदय में निमग्न होने से जो अवर्णनीय परमोत्कृष्ट प्रीति को देती है (और) कंठमें लग्न होने से अन्तर के अंधकार समूह को भली भाँति नाश करती है उस, द्राक्षादि पदार्थों से भी विशेष माधुर्य्यता को देनेवाली 'कृष्ण' इस आख्याको कह ।

संत्येवास्मिञ्जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपास्ते-
षां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु ॥ यैर-
ध्यक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिश्चित्तारूढं
भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम् ॥ १८ ॥

---

१ 'मंदाक्रांता' छन्द है ।

इस संसारमें अनेक रम्यरूप पक्षी हैं; परन्तु उन सबमें मेरी विशेषवासना चातक में है, कारण, उसके द्वारा उसके मित्र मेघका स्मरण होनेसे कृष्णनामक ब्रह्म चित्तमें आरूढ होता है ('स्मरण' अलंकारहै)

विष्वद्रीच्या भुवनमखिलं भासते यस्य भासा सर्वासामप्यहमिति विदां गूढमालंबनं यः ॥ तं पृच्छंति स्वहृदयमनावेदिनो विष्णुमन्यानन्यायोऽयं शिव शिव नृणां केन वा वर्णनीयः ॥१९॥

जिसकी जगद्व्यापिनी भासासे अखिललोक भासमान है और सर्व पदार्थों में ' मैं ' इस प्रकार के अहंकारिक शब्द की जाननेवालों का जो गूढ़ाश्रय है; ऐसे उस विष्णु भगवान् को, अपने हृदय का भेद न जाननेवाले मनुष्य, दूसरों से पूछते हैं शिव ! शिव ! प्राणियोंका यह अन्याय कौन वर्णने कर सकता है ? भगवान् अपने हृदयमें वर्तमान होकर तत्संबंधी प्रश्न दूसरे से करना आश्चर्य्यजनक है यह भाव । इस श्लोक में विपरीत फल की इच्छा का वर्णन किया इससे 'विचित्र' अलंकार हुआ) ।

सेवायां यदि सभिलाषमसि रे लक्ष्मीपतिः सेव्यतां चिंतायामसि सस्पृहं यदि तदा चक्रायुधश्चिंत्यताम् ॥ आलापं यदि कांक्षसि स्मररिपोर्गाथा तदालप्यतां स्वापं वाञ्छसि चेन्निरर्गलसुखे चेतः सखे सुप्यताम् ॥ २० ॥

हे मन ! हे मित्र ! यदि सेवा करने की अभिलाषा होवै तो लक्ष्मीपति [विष्णु; भगवान्] की सेवा कर, यदि चिंतन करने की स्पृहा होवै तो चक्रायुध [नारायण] का चिंतन कर, यदि कथन करनेकी इच्छा होवे तो शंकर की कथा कथन कर, यदि शयन करने की आकांक्षा होवै तो ब्रह्मानंद में शयन कर ।

भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहसंतप्तवपुषो बलादुन्मूल्यं द्राङ्निगडमविवेकव्यतिकरम् ॥ विशुद्धेऽस्मिन्नात्मामृतसरसि नैराश्यशिशिरे विगाहंते दूरीकृतकलुषजालाः सुकृतिनः ॥ २१ ॥

संसाररूपी ग्रीष्मर्तुके प्रचंड आतपसमूह से संतप्त हुए प्रवर्द्धनीय अविवेक रूपी बंधनको बलसे शीघ्रही तोड, पातकजालोंको दूर कर; निराशतासे शीतल किएगए इस विशुद्धात्मामृत-तडागमें, पुण्यवान जन स्नान करते हैं ।

बंधोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान् कुर्वते कर्मपाशान्
अंतः शांत्यै मुनिशतमतानल्पचिंतां भजंति ॥
तीर्थे मज्जंत्यशुभजलधेः पारमारोढुकामाः सर्वं
प्रामादिकमिह भवभ्रांतिभाजां नराणाम् ॥ २२ ॥

बंधन मुक्त होनेके हेतु कर्मरूपी पाशवाली यज्ञादि क्रियाओं में प्रवृत्ति, अंतःकरण की शांतिके निमित्त अनेक मुनियोंके (कहे गए) अनल्प चिंतनका भजन,(संसाररूपी) अशुभ समुद्रके पार जानेके अर्थ तीर्थोंमें मज्जन, इन सब (साध-

नौका करना,) इस लोकमें जगत् भ्रांति भ्रमित मनुष्योंकी भूल है (इष्ट पदार्थके प्राप्त्यर्थ अनिष्ट कार्य करना वर्णन किया इससे 'विचित्र' अलंकार हुआ)

प्रथमं चुम्बितचरणा जंघाजानूरुनाभिहृदयानि॥
आश्लिष्य भावना मे खेलतु विष्णोर्मुखाब्जशो-
भायाम् ॥ २३ ॥

प्रथम चरणों को चुंबन कर (पश्चात्) जंघा, जानु, उरु, नाभि (और) हृदय को आलिंग्य, विष्णु भगवान् के मुखकमल की शोभा में मेरा ध्यान लगै (चरणों के चुंबन और जंघा, जानु, इत्यादिक के आलिंगन का तात्पर्य उन उन अंगों का मन में चिंतन करना है)

मलयानिलकालकूटयो रमणीकुंतलभोगिभो-
गयोः ॥ श्वपचात्मभुवोर्निरंतरा मम भूयात्पर-
मात्मनि स्थितिः ॥ २४ ॥

मलयाचल पवन और विष में, स्त्रीकेशपाश और सर्पशरीर में, श्वपच और ब्राह्मण में मेरी निरंतर समान बुद्धि होवै ।

निखिलं जगदेवं नश्वरं पुनरस्मिन्नितरां कलेवरम् ॥
अथ तस्य कृते कियानयं क्रियते हंत जनैः परिश्रमः२५

समस्त संसार नाशवंत है फिर इसमें शरीर तो अत्यंतही (क्षणभंगुर) है; हाय ! उसी के निमित्त मनुष्य कितना परिश्रम करते हैं ।

---

१ 'वियोगिनी' छंद ।

प्रतिपलमखिलाँल्लोकान्मृत्युमुखं प्रविशतो नि-
रीक्ष्यापि ॥ हा हंत किमिति चित्तं विरमति
नाद्यापि विषयेभ्यः ॥ २६ ॥

प्रति क्षण अखिल जनों को मृत्युमुख में प्रवेश करतेहुए देखकर भी, हाय ! विषयवासनाओं से चित्त अद्यापि नहीं विलग होता; यह क्या ? ।

सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीरुपरि पतंत्वथवा
कृपाणधाराः ॥ अपहरतुतरां शिरः कृतांतो मम
तु मतिर्न मनागपैतु धर्मात् ॥ २७ ॥

(चाहै) राज्यलक्ष्मी सत्वर नष्ट हो जावै, चाहै कृपाणधारैं ऊपर से गिरैं, (चाहै) कृतांत शिरश्छेदन करै, परंतु मेरा मन किंचित् भी धर्म से न चलै ।

अपि बहलदहनजालं मूर्ध्नि रिपुर्मे निरंतरं धमतु ॥
पातयतु वासिधारामहमणुमात्रं न किंचिदपभाषे२८॥

शत्रु मेरे मस्तक पै (चाहै) प्रचंड अग्निसमूहको भी निरंतर जलावैं अथवा खड्गधार प्रहार करैं (परंतु) मैं किंचिन्मात्रभी अपभाषण न करूं (महान् कष्ट होने पै भी अपशब्द मुखसे न निकलना चाहिए यह भाव)

तरणोपायमपश्यन्नपि मामक जीव ताम्यसि
कुतस्त्वम् ॥ चेतःसरणावस्यां किं नागंता कदापि
नंदसुतः ॥ २९ ॥

---

१ 'पुष्पिताग्रा' छंद ।

हे मम जीव ! (भवसागर) से पार होनेका उपाय न करके भी (वृथा) तू क्यों संतप्त होता है ? क्या इस मन-रूपी मार्गमें नंदसुवन श्रीकृष्ण भगवान् कभी न आवैंगे ? (धैर्य धर और श्रीकृष्णस्मरण कर यह भाव)

श्रियो मे मा संतु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
मदभ्राम्यद्भृंगावलिमधुरझंकारसुभगाः ॥ निम-
ग्नानां यासु द्रविणमदिराघूर्णितदृशां सपर्या-
सौकर्य्यं हरिचरणयोरस्तमयते ॥ ३० ॥

उन्मत्त गजेंद्र घटाओंके (गंडस्थलस्खलित) दानोदक पै भ्रमण करनेवाले मधुकरसमूहके मधुररवसे शोभायमान संप-त्तियां मुझे न प्राप्त होवैं; क्योंकि, उन (संपत्तियों) में निमग्न होने (और) द्रव्यरूपी मदिरासे भ्रमितनेत्र हो जानेसे, हरिचरणके पूजनका सुकर अस्त हो जाता है (ऐश्वर्यसंपन्नत्व, हरिभक्तिका बाधक है यह भाव)

किं निःशंकं शेषे शेषे वयसः समागतो मृत्युः ॥
अथवा सुखं शयीथा निकटे जागर्ति जाह्नवी
जननी ॥ ३१ ॥

(हे जीव !) निःशक क्यों शयन करता है ? (क्या तू नहीं जानता कि) जरावस्थामें मृत्युका समागम होता है; अथवा (जो सोना ही है तो) निकटही भागीरथी जननी वर्तमान हैं (उसके तीर पै) सुखसे शयन कर)

संतापयामि किमहं धावंधावं धरातले हृदयम् ॥
अस्ति मम शिरसि सततं नंदकुमारः प्रभुः
परमः ॥ ३२ ॥

पृथ्वी पै धाय धाय मैं क्यों हृदयको संतापित करता हूँ ? मेरे (तो) शिर (ही) पै परम प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र संतत निवास करते हैं ।

रे रे मनो मम मनोभवशासनस्य पादांबुजद्व-
यमनारतमानमंतम् ॥ किं मां निपातयसि
संसृतिगर्तमध्ये नैतावता तव गमिष्यति
पुत्रशोकः ॥ ३३ ॥

हे मन्मन ! मनोभव [मन से है उत्पत्ति जिसकी अर्थात् कामदेव] के शासन करनेवाले शंकर के युगल चरण कमलों को निरन्तर नमस्कार करनेवाले मुझे (तू) क्यों संसाररूपी गर्त [गढे] में डालता है ? ऐसा करने से तेरा पुत्र का शोक न जावैगा (काम की उत्पति मनसे सूचित करके उसे मन का पुत्र ठहराया, इस हेतु शंकर से स्वभाव ही मन की शत्रुता होनी चाहिए क्योंकि काम को शंकर ने दग्ध किया है, तात्पर्य यह कि, सदाशिवसे तो तेरा वश चलता ही नहीं इस से तू उनके भक्त को दुःख देता है परन्तु इस प्रकार पलटा लेने से पुत्र का शोक न जायगा) ।

मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा

तमालः ॥ रघुपतिमवलोक्य तत्र दूराद्दृषिनि-
करैरिति संशयः प्रपेदे ॥ ३४ ॥

"मरकतमणिरूपी (अल्प) पर्वत शिखर है क्या ? अथवा तरुणतर तमाल वृक्ष है क्या !" इस प्रकार रामचन्द्रको वहां दूरसे अवलोकन कर ऋषियोंको संशय हुआ।

तरणितनया किं स्यादेषा न तोयमयी हि सा
मरकतमणिज्योत्स्ना वा स्यान्न सा मधुरा कुतः॥
इति रघुपतेः कायच्छायाविलोकनतत्परैरुदित-
कुतुकैः कैःकैरादौ न संदिदिहे जनैः ॥ ३५ ॥

"यह यमुना है क्या ? न, (यमुना तो नहीं) वह तो जलमयी है, (फिर) मरकतमणिकी दीप्ति तो नहीं ?न(वह भी नहीं क्योंकि यह तो माधुर्य युक्त है और) वह अर्थात् मरकतमणि दीप्ति मधुर नहीं है," इस प्रकार रामचन्द्रके स्वरूपकी छायाके अवलोकनमें तत्पर और कौतुक युक्त होते हुए कौन कौन मनुष्योंने आदिमें संदेह नहीं किया (यह संदेह अलंकार है)

चपला जलदाच्युता लता वा तरुमुख्यादिति
संशये निमग्नः ॥ गुरुनिःश्वसितैः कपिर्मनीषी
निरणैषीदथ तां वियोगिनीति ॥ ३६ ॥

"मेघ से विलगहुई चपला है ? अथवा वृक्षविशेष से वियोग को प्राप्त हुई लता है"? इस प्रकार संशय में निमग्नहुए

---

१ 'पुष्पिताग्रा' वृत्त । २ 'हरिणी' छन्द । ३ 'माल्यभारा' छन्द ॥

चतुर (मारुतसुत) कपि ने दीर्घ निश्वासों से निर्णय किया कि यह वियोगनी (सीता) है । इसमें निश्चयात्मक 'संदेह' अलंकार है ।

भूतिर्नीचगृहेषु विप्रसदने दारिद्र्यकोलाहलो
नाशो हंत [1]सतामसत्पथजुषामायुः समानां
शतम् ॥ दुर्नीतं तव वीक्ष्य कोपदहनज्वालाज-
टालोऽपि सन् किं कुर्वे जगदीश यत्पुनरहं दीनो
भवानीपतिः ॥ ३७ ॥

नीचके घरमें संपत्ति(और) ब्राह्मणके गृहमें अखंड दारिद्र्य दिया) सत्पुरुषोंको नाश (और) असत्पथगामीजनों को शतायु (किया) ; हे जगदीश ! हाय, ऐसी तेरी अनीतिको देख कोपाग्निसे प्रज्वलित होकर भी मैं क्या कर सकता हूं ! तूने तो साक्षात् शंकरको (भी) दीन किया है ।

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्प-
योधेर्यावंतः संति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशंकं
वदंतु ॥ मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरी-
भाग्यभाजां वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं
कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥ ३८ ॥

यहां से जगन्नाथराय कुछ स्वकाव्यप्रशंसात्मक पद्य लिखकर पुस्तक समाप्त करेंगेः—सुमेरुगिरि के मूल से लेकर मलयाचलसे वेष्टित समुद्रके कूल पर्य्यन्त अर्थात् सारे भरतखंड में

---

[1] 'स्रग्धरा' छन्द ।

जितने काव्य रचनानिपुण होवें वे (इस बातको) निःशंक कहें कि द्राक्षाके मध्य से निकलनेवाली सत्वरसझरी समान मधुरशीला वाणीके स्वामित्व पदके अनुभव लेनेको मेरे अतिरिक्त और कौन धन्य है ? (मेरे समान रसभरित काव्य अन्य कवि नहीं कर सकता यह भाव)

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम् ॥ वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पंडितपतेरधुन्वन्मूर्धानं नृपशुरथवायं पशुपतिः ॥ ३९ ॥

वीणा के बजाने में अपने हस्त को शिथिल करके अर्थात् वीणा बजाना छोड (प्रत्यक्ष) सरस्वती देवी जिसकी वाणी के अमृतमय रस को पान करती है, उस पंडितपतिके श्रवण सुहावने वचन सुनकर मनुष्यरूपधारी पशु अथवा सदाशिव (के समान केवल योगिजन) शिर नहीं हिलाते। तात्पर्यः—मेरे कवित्व को श्रवण करने में जिन्हें आनंद नहीं होता उन्हें केवल पशु अथवा जीवन्मुक्त कहना चाहिए।

मधु द्राक्षा साक्षदमृतमथ वामाधरसुधा कदाचित्केषांचिन्न खलु विदधीरन्नपि मुदम् ॥ ध्रुवं ते जीवंतोऽप्यहह मृतका मंदमतयो न येषामानंदं जनयति जगन्नाथभणितिः ॥ ४० ॥

माक्षिक [शहत,] द्राक्षा [दाख] साक्षात् अमृत व स्त्रीका अधरोष्ठरस भी कदाचित् चाहै किसीको प्रमुदित न करै (परन्तु) जगन्नाथ की काव्यसे जो आनंदित नहीं होते वे जडबुद्धि(इस संसार)में जीते ही जीते ही मृतकके समान हैं।

निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यंतपाकद्र-
वन्मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्॥
काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्वं संमुखे मादृशां
नो चेद्दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वांताद्बहिर्मा
कृथाः ॥ ४१ ॥

हे मित्र ! अत्यंत परिपक्कभावको प्राप्त होनेवाली, द्रवीभूत द्राक्षाके रसकी माधुरीके मदको परिहार करनेमें समर्थ, वाणी के निर्माणमें यदि तू मर्मज्ञ है तो मेरे सन्मुख सुखसे काव्य कथन कर; (परंतु) जो मनमें (किसी प्रकारका) गर्व हो तो (उसे) स्वमुखसे बहिष्कृत न होने दे (मेरे सन्मुख चाहै तो काव्यालाप कर परन्तु यदि तेरे मनमें स्वकाव्य विषयक कुछ भी अभिमान होवै तो तेरा कहना उचित नहीं अर्थात् जो तू वैसा करैगा तो मेरे द्वारा तेरा पराभव होगा एक मात्र केवल मेरी काव्य सर्वोत्कृष्ट है यह भाव)

मद्वाणि मा कुरु विषादमनादरेण मात्सर्यमग्न-
मनसां सहसा खलानाम् ॥ काव्यारविंदमकरं-
दमधुव्रतनामास्येषु धास्यतितमां कियतो
विलासान् ॥ ४२ ॥

हे मद्वाणि ! मत्सरभावपूरित खलोंके सहसा अनादर से तू विषाद मत कर, काव्यारविंदमकरंदके (लोभी, रसिकजन-रूपी) मधुव्रतों के मुख में तू अनेक प्रकारके विलासों को धारण करैगी ! (रसज्ञ तेरा महान आदर करैंगे यह भाव)

विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमा भूपालाः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः ॥ आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालसस्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विपाको मम ॥ ४३ ॥

धरातलमें विद्वज्जन अन्यकृत काव्यकी प्रशंसा में मूक (हो रहे हैं), भूपाल, संपत्तिरूपी मदिराके मद से भ्रमिष्ट (भावको प्राप्त हुए हैं, अत एव काव्यके प्रकाश होनेके दोनों मार्ग न रहने से) कामालस अप्सराओंके अधरकी माधुर्य्यता को जीतने वाला, मेरी वाणीका विपाक [फल—अर्थात् कवित्व] इस समयमें किस धन्यके मुखमें नृत्य करेगा ?

धुर्यैरपि माधुर्यैर्द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकावीनाम् ॥ वंद्यैव माधुरीयं पंडितराजस्य कवितायाः ॥४४॥

पंडितराज (जगन्नाथ) की कविताकी माधुरी. द्राक्षा, दुग्ध, ईख, माक्षिक [शहत] इत्यादिककी महान माधुर्यसे भी वंदन किये जानेके योग्य है (इन पदार्थोंसे भी विशेष मधुर है यह भाव)

शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि संभाविता दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः ॥ संप्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते सर्वं पंडितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम् ॥ ४५ ॥

पंडितराजश्रेणी के तिलकभूत (जगन्नाथराय) ने सर्व लोकाधिक कृत्य किये—शास्त्रों का अध्ययन किया, (सन्ध्या वंदनादिक) सकल नित्यविधि भी साधे, युवावस्था दिल्ली-नरेश के हस्तपल्लव तले बिताई, (और) अब इस समय विषयवासनाओंको त्याग मथुराक्षेत्र में भगवान् नारायण का सेवन करते हैं।

दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यंतीति शंकया ॥
मदीयपद्यरत्नानां मंजूषैषा मया कृता ॥ ४६ ॥
इति श्रीमत्पंडितराजजगन्नाथविरचिते भामिनी-
विलासे शांतो नाम चतुर्थो विलासः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं ग्रंथः ।

दुष्टरंडापुत्र (इनका) हरण करेंगे इस शंका से अपने पद्यरूपी रत्नों की यह पेटी मैंने बनाई।

भामिनीविलास के शांत नाम चतुर्थ विलास का प्राकृत भाषानुवाद समाप्त हुआ।

---

१ यौवनकाल में मैंने अनेक भोग भी भोगे यह सूचित किया।

पुस्तके मिलने के स्थान :—

खेमराज श्रीकृष्णदास
श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
७वीं खेतवाडी, खम्बाटा लेन,
बम्बई—४०० ००४

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस व बुक डिपो
अहिल्याबाई चौक, कल्याण
(जि० ठाणे—महाराष्ट्र)

खेमराज श्रीकृष्णदास, चौक—वाराणसी (उ० प्र०)

श्रीमान् ।

पंडित मुरलीधर मिश्र

डिप्यूटी इन्स्पेक्टर आफ़ स्कूलस्, कानपुर को

भामिनी विलास नामक सुप्रसिद्ध संस्कृत

काव्यका यह देवनागरी

भाषांतर

महावीर प्रसाद द्विवेदीने

नम्रता पूर्वक अर्पण किया ।

पुस्तके मिलने के स्थान :-

खेमराज श्रीकृष्णदास
श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
७वीं खेतवाडी, खम्बाटा लेन,
बम्बई-४०० ००४

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस व बुक डिपो
अहिल्याबाई चौक, कल्याण
(जि० ठाणे-महाराष्ट्र)

खेमराज श्रीकृष्णदास, चौक-वाराणसी (उ० प्र०)

मुद्रक व प्रकाशक:-

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,
अध्यक्ष-"लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस,
कल्याण-बम्बई.